कवि विद्याराम विरचिता

रसदीर्घिका

सम्पादक—

श्रीयुत् पं० गोपालनारायण बहुरा. एम. ए.

प्रकाशनकर्त्ता

राजस्थानराज्याज्ञानुसार

संचालक, राजस्थानपुरातत्त्वान्वेषणमन्दिर

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१५] भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८० [ख्रिस्ताब्द १९५९

प्रथमावृत्ति १००० मूल्य ७ ००

मुद्रक—श्री बालचन्द्र यन्त्रालय, दुर्गापुरा, जयपुर ।

राजस्थानपुरातनग्रन्थमाला के कुछ ग्रन्थ

प्रकाशित ग्रन्थ

संस्कृतभाषाग्रन्थ—१. प्रमाणमञ्जरी—तार्किकचूड़ामणि सर्वदेवाचार्य, मूल्य ६·०० । २. यन्त्रराजरचना—महाराजा सवाई जयसिंह मूल्य १·७५ । ३. महर्षिकुलवैभवम्—स्व० श्रीमधुसूदन ओझा मूल्य १०·७५ । ४. तर्कसंग्रह—पं० क्षमाकल्याण मूल्य ३·०० । ५. कारकसम्बन्धोद्योत—पं० रभसनन्दि मूल्य १·७५ । ६. वृत्तिदीपिका पं० मौनिकृष्ण मूल्य २·०० । ७. शब्दरत्नप्रदीप मूल्य २·०० । ८. कृष्णगीति—कवि सोमनाथ मूल्य १·७५ । ९ शृङ्गारहारावलि—हर्षकवि मूल्य २·७५ । १०. चक्रपाणिविजयमहाकाव्यं—पं० लक्ष्मीधरभट्ट मूल्य ३·५० । ११. राजविनोद—कवि उदयराज मूल्य २·२५ । १२. नृत्तसंग्रह मूल्य १·७५ । १३. नृत्यरत्नकोश, प्रथम भाग—महाराणा कुंभा मूल्य ३·७५ । १४. उक्तिरत्नाकर—पं० साधुसुन्दर गणि मूल्य ४.७५ । १५. दुर्गापुष्पांजलि—पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी मूल्य ४·२५ । १६. कर्णकुतूहलं तथा कृष्णलीलामृतं—भोलानाथ मूल्य १·५० । १७. ईश्वरविलास महाकाव्य, श्रीकृष्ण भट्ट, मूल्य ११.५० । १८· पद्यमुक्तावली—कवि कलानिधि श्रीकृष्णभट्ट मूल्य ४.०० । १९. रसदीर्घिका—विद्याराम भट्ट मूल्य २·०० ।

राजस्थानी और हिन्दी भाषा ग्रन्थ—१. कान्हडदे प्रबन्ध-कवि पद्मनाभ मूल्य १२·२५ । २. क्यामखारासा—कवि जान मूल्य ४·७५ । ३. लावारासा—गोपालदान मूल्य ३.७५ । ४. वांकीदासरी ख्यात—महाकवि वांकीदास मूल्य ५·५० । ५. राजस्थानी साहित्यसंग्रह भाग १, मूल्य २·२५ । ६. जुगल—विलास—कवि पीथल मूल्य १.७५ । ७. कवीन्द्रकल्पलता—कवीन्द्राचार्य मूल्य । २·०० ।

प्रेसों में छप रहे ग्रन्थ

संस्कृत भाषा ग्रन्थ—१. त्रिपुराभारतीलघुस्तव—लघुपंडित । २ शकुनप्रदीप—लावण्यशर्मा । ३. करुणामृतप्रपा—ठक्कुर सोमेश्वर । ४. बालशिक्षा व्याकरण—ठक्कुर संग्रामसिंह । ५. पदार्थरत्नमञ्जूषा, पं० कृष्णमिश्र । ६. काव्यप्रकाशसंकेत—भट्ट सोमेश्वर । ७. वसन्तविलास फागु । ८. नृत्यरत्नकोश भाग २ । ९. नन्दोपाख्यान । १०. रत्नकोश । ११. चान्द्रव्याकरण । १ . स्वयंभूछंद—स्वयंभू कवि । १३. प्राकृतानंद-कवि रघुनाथ । १४. मुग्धावबोध आदि औक्तिक संग्रह । १५. कविकौस्तुभ-पं० रघुनाथ मनोहर । १६. दशकण्ठवधम्-पं० दुर्गाप्रसाद ।

राजस्थानी और हिन्दी भाषाग्रन्थ—१. मुंहता नेणसीरी ख्यात—मुंहता नेणसी । २. गोराबादल पदमिणी चऊपई-कवि हेमरतन । ५. चन्द्रवंशावली—कवि मोतीराम । ६. राजस्थानी दूहा संग्रह । ७. वीरवांण—ढाढी बादर ।

इन ग्रन्थोके अतिरिक्त अनेकानेक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी और हिन्दी भाषा में रचे गये ग्रन्थोंका संशोधन और सम्पादन किया जा रहा है ।

सञ्चालकीय वक्तव्य

राजस्थान एवं गुजरात, मालवा आदि प्रदेशों में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के बिखरे हुए एवं जीर्णशीर्ण दशा में जो संग्रह प्राप्त होते हैं उनमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एव प्राचीन राजस्थानी और गुजराती भाषा में रचित छोटी बड़ी ऐसी सैकड़ों ही साहित्यिक कृतियां उपलब्ध होती हैं जो अभी तक प्रायः अज्ञात और अप्रसिद्ध हैं। विद्वानों का लक्ष्य प्रायः अभी तक उन्हीं सुप्रसिद्ध और सुज्ञात ग्रन्थों के अन्वेषण एवं संशोधन की तरफ रहा है जो यत्रतत्र यथेष्ट परिमाण में उपलब्ध होते हैं। ग्रन्थों के संपादन और प्रकाशन के विषय में भी प्रायः यही प्रथा चली आ रही है। सुप्रसिद्ध और सुज्ञात ग्रन्थों के सिवाय छोटी छोटी एवं प्रकीर्ण रचनाओं के विषय में विद्वानों का विशेष लक्ष्य नहीं जाता है और इसलिये अभी तक ऐसी रचनाओं के सम्पादन-प्रकाशन का मुख्य प्रयत्न प्रायः नहीं सा हुआ है। हमारे प्राचीन इतिहास एव सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से इन फुटकर रचनाओं में जो ज्ञातव्य छिपे पड़े हैं उनकी तरफ हमारा लक्ष्य बिल्कुल नहीं गया है, ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

राजस्थानपुरातत्त्वान्वेषणमंदिर का कार्य प्रारम्भ करते समय हमारा मुख्य लक्ष्य इस प्रकार के प्रकीर्ण साहित्य का अन्वेषण, सग्रह, संरक्षण, संशोधन एवं प्रकाशन आदि करने का रहा है और तदनुसार राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला द्वारा ऐसी अनेकानेक साहित्यिक रचनाओं को, सुयोग्य विद्वानों द्वारा शोधित, सम्पादित कराकर प्रकाश में रखने का आयोजन हमने किया है।

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के ४१ वें पुष्प के रूप में विद्यारामरचित "रस-दीर्घिका" नाम की कृति का प्रकाशन किया जा रहा है। यह एक छोटी भावगर्भित महत्त्वपूर्ण सुन्दर कृति है। इसमें साहित्य-शास्त्र के रस, अलंकार, भाव,वृत्ति, नायक नायिका भेद, गुण दोष आदि सभी अंगों पर सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में जिसे हिन्दीसाहित्य के इतिहास की दृष्टि से विद्वानों ने रीतिकाल का नाम दिया है, संस्कृत के कुछ विद्वानों ने भी रीति-कालीन कवियों की शैली से प्रभावित होकर वैसे ही ग्रन्थ लिखे थे। इन ग्रन्थों में रस-सम्प्रदाय के ग्रन्थों की ही भांति रस, अलंकार, गुण दोष आदि के वर्णन के साथ साथ नायक नायिका भेद पर भी पूरा पूरा विचार किया गया है। संस्कृतसाहित्य के पुराने ग्रन्थों की ध्वनिवादी और नाट्यवादी भिन्न दोनों धारायें इस काल में रचित ग्रन्थों में एक जगह आकर मिल गई हैं। हिन्दीकाव्यग्रन्थों की इस कोटि में आचार्य केशवदास निर्मित "कविप्रिया" और "रसिक-प्रिया" को इस प्रकार के उदाहरणरूप में लिया जा सकता है। इस शैली के अनुरूप ही विद्वद्वर विद्याराम ने प्रस्तुत "रस-दीर्घिका" की रचना की है।

"रसदीर्घिका" के कर्त्ता विद्याराम नागरज्ञातीय भट्ट अवटंक युक्त वीसलनगरा ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम वेणीराम और प्रपिता का नाम ब्रजनाथ था। ये अहमदाबाद के पास "पसुंजा" नामक ग्राम के रहने वाले थे और बाद में उदयपुर चले आये। वहां से आजीविका के लिये कोटा पहुंचे, जहाँ रहते हुए ही इन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना विक्रमीय संवत् १७०६ में की।

इस कृति एवं कर्त्ता के नाम का उल्लेख सबसे पहले पी० पीटर्सन ने अपनी तीसरी रिपोर्ट में बम्बई गवर्नमेंट के लिये खरीदे हुए ग्रन्थों की सूची में किया है। पूना के भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में वह प्रति संगृहीत है।

राजस्थानपुरातत्त्वान्वेषणमंदिर के सन् ५४।५५ में खरीदे हुए ग्रन्थों में हमें इसकी एक प्रति प्राप्त हुई थी जो यहां की ग्रन्थसंख्या ४३२७ पर अंकित है। उक्त कृति को हमारे सहकारी श्री गोपालनारायण जी बहुरा ने जब हमें दिखलाया तो यह हमें पुरातनग्रन्थमाला में प्रकाशित करने के लिए उपयोगी प्रतीत हुई। हमने इसे सम्पादित करने के लिये कहा। श्री बहुरा जी ने पूना के ग्रन्थ भंडार से प्रति मँगाकर यहां की और पूना की प्रति के आधार पर सम्पादित प्रति तैयार की जो विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत रूप में प्रकाशित हो रही है। इस रचना का निर्माण राजस्थान में ही हुआ इसलिये इसका हमें और भी विशेष महत्त्व मालूम पड़ा। हमारे ख्याल में इस रचना का इतः पूर्व कहीं मुद्रण नहीं हुआ है और न इस ग्रन्थकार की अपररचना का ही पता लगा है। जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है, यह बालबोध के लिये सारपूर्ण छोटी सी अच्छी रचना है और साहित्य-शास्त्र में आरम्भिक अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों का तो इससे अच्छा उपकार हो सकता है।

संस्कृतसाहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और कवि, जयपुरवास्तव्य भट्ट श्री मथुरानाथजी ने इसकी आरंभिक भूमिका लिखकर और भी उपयोगिता बढ़ा दी है तथा विद्वान् संपादक ने भी अपने प्रास्ताविक--परिचय में इस कृति का पूरा परिचय देते हुए इसके महत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला है।

आशा है, विद्वानों को यह कृति आदरणीय प्रतीत होगी।

राजस्थानपुरातत्त्वान्वेषणमन्दिर,
जोधपुर, ता० १ जनवरी, १९५९ ई०

मुनि जिनविजय
संमान्य सञ्चालक

श्रीः

प्रारम्भकं किञ्चिद्वक्तव्यम्

कान् पृच्छामः–सुराः स्वर्गे, निवसामो वयं भुवि ।
किं वा काव्यरसः स्वादुः ? किं वा स्वादीयसी सुधा ? ॥ १

संस्कृतवाङ्मये काव्यबन्धस्य महती प्रतिष्ठा। काव्यमिदं, तन्निबन्धा कविश्च, संस्कृतसाहित्ये महता गौरवेण समुपश्लोक्यते साहित्यसारसंग्राहकैः सर्वैरेव । किं बहुना, यो हि सकलब्रह्माण्डस्य स्रष्टा प्रजापतिर्ब्रह्मा, सोपि कविरिति गौरवतो गीयते स्म । कविनिर्मिता रचना अमृततोऽप्याकर्षिका, सर्वतः स्वादीयसी च परिगणिता नूनम् । काव्यमिदं हृदयशालिनो विवेकिनः आत्मपोषणकरं महदौषधमिव । नेयं काव्यभक्तिः केवलं संस्कृतसरस्वतीसेवकानामेव, यवनादिभाषाऽनुरागिणोऽपि काव्यमिदम् 'आत्मनो भोज्यम्' आहुः । आदितः प्रारभ्य अद्यावधि काव्येन सा सिद्धिरधिगता या हि अन्यान्यैः शिक्षाशास्त्रैर्नाधुनाऽप्युपस्पृष्टा । नीति–धर्म–शास्त्रादिभिर्मार्मिकान् उपदेशान्दत्त्वाऽपि ये विनेयाः शिक्षाफलं नोपनीताः, तेऽपि कान्तासंमितोपदेशदायकैरेतैः काव्यैरञ्जसा सुनीतिपथमुपनीताः । अतएव हि संस्कृतसाहित्ये तत्तादृशाः कवयः, तत्प्रणीताः काव्यबन्धाश्च तादृशाः सन्ति यानिमान् न केवलमेतद्देशीया एव, अपि तु सप्तसमुद्रपारवासिनो वैदेशिका अपि प्रकम्पितमस्तकं प्रशंसन्ति ।

काव्यानामेषामात्मस्थानीयं साराऽऽधायक किमस्ति हि तदान्तरिकं तत्वं येन हि एतावद् गौरवमधिगतं काव्यगुम्फैरेभिः ? एतद्विषये काव्य-साहित्यमार्मिकाणां भवेयुः पुरा कानिचिद् भिन्नभिन्नानि मतानि 'वक्रोक्ति, ध्वनि, अलंकार' प्रभृतीनि नूनम् । परं यथा यथा मार्मिकमालोचनं प्रवृत्तम् , यथा यथा च उत्तरोत्तरं सारतोऽपि सारपरिग्रहणस्य पन्थाः प्रसृतः, तथा तथा चरमसिद्धान्तरूपेण 'रसस्य' एव काव्यजीवितत्वमुत्तरभाविषु साहित्यनिबन्धेषु समर्थितमभूद् भूयसा । मार्मिकमालोचनमेव चेदं साहित्यस्य अमृताऽऽधायकं शाश्वतं तत्त्वम् । यथाहि प्रोक्तम् प्रामाणिकैः पुरा–

संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम् ।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनाऽमृतम् ॥

काव्यजीवितस्य रसस्याऽस्य स्वरूपं, भेद–प्रभेदाश्च साहित्यग्रन्थेषु महता विस्तरेण संनिरूपिता नूनम् । किन्तु ते इमे ग्रन्था गहनाः, प्रौढया च भाषया विनिबद्धाः ।

१–'रूह की खुराक' ।

सर्वतोऽन्तिमः प्रामाणिकश्च रसविनिर्णायक आकरग्रन्थः 'रसगङ्गाधरः'। सुविशदः, मार्मिकतया तत्त्वविवेचकोऽपि सोयं प्रौढया भाषया विनिबद्धः। अत एव हि रसविवेचनाविषये गवेषणापराणां बहूनामेव भवत्यत्र प्रवृत्तिः। किन्तु ते काठिन्यभयभुग्ना इतस्ततः पर्यटन्ति। ये च केचित्साहित्यपण्डिता रसविषयिणीं मीमांसामुपस्थापयन्ति जिज्ञासूनां संमुखे, तेऽप्यविकलं साहित्यग्रन्थानां पाठमेव आम्रेडयन्ति। न तेन बहूनां नवीनजिज्ञासूनामान्तरिको जिज्ञासा प्रशममेति। अत एव साहित्यग्रन्थेषु रसस्वरूपम् तेषां प्राचीनं संप्रदायं, वास्तवं रहस्यं च सर्वतोऽपि जिज्ञासवः परिपृच्छन्त्येव साहित्य-गोष्ठ्याम्। समयश्च तादृशोऽयमुपस्थितो यत्सरलया भाषया, स्वल्पेनैव चाऽऽयासेन, गभीरगभीरग्रन्थगतं रसस्वरूपम्, तद्विषयकान् भेदोपभेदांश्च, सर्वे एव साधारणतया संप्रति बोद्धुमिच्छन्ति। मा भून्मार्मिकमीमांसा, किन्तु रसलक्षणम्, भेदान्, तदङ्ग गतान् पदार्थान्, नामतश्च सर्वे एव परिज्ञातुमभिलषन्ति समयेऽस्मिन्, येन हि काव्येषु प्रतिपदमुपस्थितान् रसादीन् स्थूलतया बुद्धावानेतुं शक्नुयुर्जिज्ञासवः।

❀ रसदीर्घिका ❀

एतामेव सामयिकीमावश्यकतां बुद्धौ निधाय—

'अनायासेन बालानां रसास्वादनहेतवे।
विद्यारामः करोत्येतां मनोज्ञां रसदीर्घिकाम्॥'

इयं हि प्रकरणानुसारमुदाहरणानि समुपस्थाप्य, तेषां निदर्शनेन रस–भावादीनां लक्षणानि संगमयति। अत एव हि अवसरसमुपस्थितेषु उदाहरणेषु सहजमेव शक्याः संबोद्धुं रस–भाव–तदङ्गादयः पदार्थाः। आह विद्यारामः—

'स्वकल्पितोदाहरणैः सलक्ष्यैर्विरच्यते या रसदीर्घिकैषा।
इच्छास्ति येषां रसरूपबोधे तैः शर्मणा सा सुगमाऽवबोधा॥ ४॥'

भरतेन हि साहित्यस्य मूलभूतास्ते इमे रसभावादयः प्रथमतयाऽभूवन्निरूपिताः। किन्तु परस्ताद् भाविभिः भामह–दण्डि–लोल्लटादिभिर्विविच्य नानाभेद प्रभेदादिभिर्विस्तरतः प्रपञ्चिताः। हन्त, अनन्तकालान्नानादेशीयैरधिकृते भारतेऽस्मिन् विज्ञानसर्वस्वभूताः प्राचीनास्ते अस्मद्ग्रन्था बहुशो विलुप्ताः। भूरिशश्चापहृत्य तत्तन्प्रत्यन्तेषु नीताः, संप्रति स्मरणतोऽपि विप्रकृष्टाः संवृत्ताः। अत एव हि काव्यमूलभूतस्य रसस्य ये 'संप्रदायाः' पुरा सर्वतोऽपि संप्रावर्तन्त ते संप्रति गवेषणसीमानमप्यतिक्रान्ताः। काव्यप्रकाश–रसगङ्गाधरादिषु येषां स्थूला सूचना संप्राप्यत, तेऽपि संप्रदायाः पाठ्यक्रमस्य अनन्तकालात्परिवर्तनेन संप्रति नाममात्रतो निर्देश्या एव। रससंप्रदायस्य ये परमाचार्याः, या च तेषां परम्परा, सा संप्रति गवेषणातोऽपि विप्रकृष्टा। केवलमास्तिकानामन्वेषणा यत्–'अलंकारशास्त्रे' तिप्रथितस्य साहित्यस्य मूलम् 'अग्निपुराणे' बहुशोऽधिगम्यते। तत्र रसविषयो यथा—

'रत्यादिभाववर्गोऽयं यमाजीव्योपजायते ।
आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा ॥
विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधा ऽऽलम्बनोद्दीपनात्मकः ॥'

[३३९ अध्याये]

इत्यादि । किन्तु अग्निपुराणविषये नवीनानां बहुशो विप्रतिपत्तयः । ते हि पुराणमिदं बहुभ्यो ऽन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो ऽर्वाचीनं समर्थयन्ते । यतो ह्यस्मिन् साहित्यस्य तत् स्वरूपमधिगम्यते यद्धि विकासकाले संभाव्यते । अस्तु यत्किञ्चित्, साहित्यशास्त्रम्, तदन्तर्गता रससंप्रदायाश्च वर्तमानकाले गवेषणाविषयाः संवृत्ताः । मध्यकाले ध्वन्यालोक-काव्यप्रकाश--साहित्यदर्पणादिभ्यो ग्रन्थेभ्यो यावान् रसविषयो ऽधिगन्तुं शक्यः, सोऽपि गहनभाषया निबद्धत्वात्तेषां ग्रन्थानां नाऽस्मिन् समये साध्यः । अतएव कठिनतामिमां बुद्धौ संधाय, रस--भाव--तदङ्गादिविषये यत्किल स्थूलरूपेण संबोध्यं, तदेव सरलया भाषया निबद्धं विद्यारामेण ।

साहित्यनिबन्धेषु सर्वतोपि सरलतया सुनिबद्धं रससामान्यस्य लक्षणं--"पूर्वत एव वासनारूपेण स्थितः रति--हास--शोकादिः स्थायी, काव्यद्वारा उपस्थितैः शकुन्तला-विदूषक--मृतव्यक्त्यादिभिः आलम्बनकारणैः चन्द्रादिभिरुद्दीपनैः, अश्रुपातादिभिः अनुभावैः (कार्यैः), चिन्तादिभिः संचारिभिः (सहकारिकारणैः) सर्वैः संभूय [अर्थात् व्यञ्जनाख्यस्य अलौकिकव्यापारस्य प्रादुर्भावकार्ये संगत्य] व्यञ्जनाख्यः अलौकिको व्यापारः प्रकटीक्रियते । तेन व्यञ्जनाव्यापारेण--आत्मनः आनन्दस्य आवरणम् अज्ञानं दूरीक्रियते । ततश्च निवृत्ताज्ञानेन सामाजिकेन स्वस्वरूपम् आनन्दः [आत्मनः साक्षात् स्वरूपभूतः आनन्दः], तथा तेन (आनन्देन) सह गोचरीक्रियमाणः रति--हास--शोकादिः स्थायी एव शृङ्गार--हास्य--करुणादिरसो भवति" ।

सर्वतोऽन्तिमस्याऽऽकरग्रन्थस्य रसगङ्गाधरस्याऽक्षराणि--'समुचितललित-संनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभि-चारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालंबनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, संभूय प्रादुर्भावितेनाऽलौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तिताऽऽनन्दांशावरणाऽज्ञानेना ऽत एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृ-त्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरी-क्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ।'

विशदतया सुनिबद्धतया च गद्येन निरूपितं तदेतदपि लक्षणं नाऽधुना बहूनां बोधगम्यं भवेदिति सर्वस्य चूर्णिकारूपेण दीर्घिकायां लक्षणमाह विद्यारामः--

'भावैस्तैस्तैर्हि यश्चित्ते पूर्यमाणः समन्ततः। उद्रिक्तः कोपि निर्यायात् भावः सान्द्रो (साङ्गः) रसः स्मृतः ॥ ६'

रस्यते ऽनुभव स्वस्या ऽऽनीयते यः स वा रसः । रसत्वं नाम जातिर्वेत्येकेपामस्ति निर्णयः ॥ १२'

'यः स्वस्य अनुभवम् आनीयते स रस.' इति हि लक्षणं किं दार्शनिक-गोष्ठ्यां स्वीक्रियेत ? पूर्वदृष्टो यः कोपि वृत्तान्तः अग्रे गत्वा स्वयमनुभवगोचरीक्रियते, तर्हि सोऽपि किं रसपदव्यपदेश्यो भवेत् ? अस्तु, स्थूलस्थूलोऽपि साधारणतया यो ऽर्थो ऽवगम्येत, सोऽपि काव्येषु रसबोधसीमनि सामाजिकं प्रापयेदिति रसदीर्घिकानिर्मातुर्विद्यारामस्य तात्पर्यम्। रसस्वरूपबोधन हि सर्वेष्वपि ग्रन्थेषु प्रायः कठिनमिव। किं हि वराको विद्यारामः कुर्वीत किंतु साधारणस्थलेषु सुसरलमाह विद्यारामः। यथा रतिं (स्थायिभावम्) आह—

'यूनोरन्योन्यसंस्नेहः प्रगाढो रतिरुच्यते ।
इतरेषु रतिर्या स्यात् सा भाव इति कथ्यते ॥ द्वि० सो० २'

नायिकानायकयोः परस्परं यः प्रेमा सा रतिः। इतरेषु देवता-पुत्र-गुर्वादिषु यः प्रेमा, स हि भावनाम्ना व्यपदिश्यते, न सा रसस्थायितां गच्छतीति तात्पर्यम्।

एवं किल रस-भाव-रसाभासादींस्तु दीर्घिकायामस्यां निबध्नात्येव कविः, किन्तु रसाश्रयस्य काव्यस्य रीति-वृत्ति-अलङ्कार-गुण-दोषादीनामपि निरूपणं यावच्छक्यं करोति। यथा हि ग्रन्थस्याऽस्यानुक्रमणिकायां प्रोक्तमेतेनैव—

'निरूपणं ततश्चात्र रीतिवृत्त्योः सुविस्तरात् ।
ततः काव्यव्यवस्थायां शब्दार्थविनिरूपणम् ॥ ५२ ॥
संदर्भोक्तिस्ततो मादिगणरूपनिरूपणम् ।
अलंकारा गुणा दोषास्ततश्चोक्ता अनुक्रमात् ॥'

एषु कुत्रचित्स्थलेषु ग्रन्थकारस्याऽस्य साहित्यमार्मिकताऽप्यनुभूयेत। दोषलक्षणप्रस्तावे बहुष्वेव साहित्यनिबन्धेषु दोषलक्षणे कृतेऽपि—बहुविस्तरे दर्शितेऽपि, तत्त्वतः परिज्ञानं न भवति यद् दोषेऽस्मिन् दूषकताबीजं किमस्तीति। तथा के नाम नित्या दोषाः, के चाऽनित्या इति। किंतु विद्यारामः सर्वमिदं संक्षिप्य, सरलतया संनिबध्नाति—

'दोषाणां हि रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकता यदा
तदैव दोषता तेषां सा न चेन्न तदा हि सा ॥'

रसप्रतीतिविघातकतैव दोषाणां दूषकताबीजम्। ततश्च यत्र रसप्रतीतिपर्यन्तं विघातकता न भवति, तत्र तेषां दुष्टत्वमपि नाऽवगम्यते। एतेन हि-नित्यानित्यदोष-

व्यवस्थापि साधु संपद्यते—यो हि रसप्रतीतिप्रतिबन्धको न भवेत् सः शब्द-अर्थ-अलंकारगतोऽपि दोषतया नाऽवभासितो भवतीत्यदोषः। एवं किल गुण-दोष-अलंकाराणां स्वरूपाण्यपि सारल्येन बोधयेदेषा दीघिका।

"अनायासेन बालानां रसास्वादनहेतवे।" इत्यारम्भे, तथा

'रसादिष्वप्रयत्नेन बालव्युत्पत्तिसिद्धये'। इत्यन्ते च येयं कविना प्रतिज्ञा कृता, सा हि स्थाने स्थाने पूरितेव महात्मनाऽनेन। 'विलासः' स्त्रीणां शृङ्गारजासु चेष्टासु साधारणतया सर्वत्र परिचीयते नूनम्। किन्तु अपरिज्ञातं पदार्थं बालेभ्यः कथंनाम बोधयेदिति 'वर्णिका' रूपेण सूचयतीव विद्यारामः—

'प्रियस्य दर्शनाद्यैर्यो विशेषो गमनादिषु।
कश्चिदुत्पद्यते हृद्यो विलासः स निगद्यते ॥८१॥'

यथा— रणद्धंसकोद्दामचञ्चत्पदाब्ज-
द्युतिभ्राजमानस्थलं संचरन्ती।
कटाक्षैर्लसद् बिभ्रती वक्त्रमञ्चद्-
भ्रुवैर्वीक्षिता सुन्दरी ते कृतार्थाः ॥८२॥

साहित्यदर्पणे विश्वनाथेन करुणरसस्य करुणविप्रलम्भस्य च पृथक् पृथक् स्वरूपं स्थानं च निरूपितम्। अन्यैर्निबन्धकारैः करुणरसो दर्शित एव' केवलं विप्रलम्भः शृङ्गारः। अत एवास्य स्थायिभावो रतिः। तेन चाऽयं शोकस्थायिभावात्करुणरसात्सुदूरं विप्रकृष्टः। विद्यारामेणापि विप्रलम्भस्य प्रवास-मानादयः चत्वारो भेदा दर्शिताः। तेषु विप्रलम्भः करुणोऽप्येकः परिगणितः। इदानीं करुणरस-करुणविप्रलम्भयोर्यो मिथो भेदः प्रदर्शयितव्यस्तत्रापि सरला पद्धतिरभ्युपगता विद्यारामेण। स ह्याह—

'यूनोरदर्शनेऽकस्मादेकस्याऽज्ञातहेतुके।
प्रलापो यो भवेद् दुःखात् स प्रोक्तः करुणात्मकः ॥१०६

अथवा—
'अच्छेदे जीविताशाया यूनोरन्यतमस्य[1] यः।
प्रलापः करुणात्मासौ, छेदे तु करुणो रसः ॥१०७
करुणात्मा तु रामस्य सीताया हरणेऽभवत्।
रासेऽन्तर्धौ मुकुन्दस्य व्रजवामदृशां तथा ॥१०८

---

१ 'अन्यतरस' इति स्यात्। मन्ये लेखकप्रमादोऽत्र भवेत

विस्मयस्थायिभावोऽद्भुतो रसः सर्वेष्वेव प्राङ्निबन्धेषु निरूपितोऽन्यैः साहित्य-सर्जकैः, किन्तु विद्यारामेण—

'अत्युक्तिश्च भ्रमोक्तिश्च विरोधाभासकस्तथा ॥
चित्रोक्त्याद्याश्च विज्ञेया अद्भुता एव सर्वशः ॥८६

इति वदता अत्युक्त्यादिषु अद्भुतो रसः स्वीकृतः। 'लोकोत्तराऽर्थयुक् वाक्य-सदर्भोऽथ धनागम'। अद्भुतस्य विभावोयमिन्द्रजालादिकं तथा ॥ ८०' इति हि अत्युक्त्यादिषु लोकोत्तरार्थयुक्तो वाच्यसंदर्भः अवश्यमस्ति। किन्तु तेन वासनारूपेणा-ऽवस्थितो 'विस्मयः' स्थायी तथैवाऽभिव्यक्तिं याति यथा अर्जुनाय विश्वरूपदर्शने भगवद्-गीतायाम्? निर्निमेषनेत्र वीक्षणम्, स्पर्शग्रहणम्, रोमाञ्चो, वेपथुः, स्वरभङ्गश्च किम अनुभावतया तथैवोत्पद्यते? इति हि पृच्छयतां काव्यपाठकानां हृदयमेव। तत्र हि प्रच्छन्नरूपेण हृदये सर्व एव काव्यपाठकोऽनुभवति यत् सैषा कविकल्पनैव केवलम्, नात्र सत्यत्वाऽवभासः, एवं सत्यपि प्रतिबन्धकताभाने, किं तादृशस्थायिभावस्य विस्म-यस्य तथैषाभिव्यञ्जना भवति? 'क्वाऽसौ मन्दोद्यमः क्वेदं दुष्करं द्रविणार्जनम्'। अथवा--'अपीता अप्यमूः पीता गावस्तत्र जलाशये'॥ ६९ (पृ० ६४)। इति विरोधा-भासप्रभृतिषु निर्निमेषनेत्रता, रोमाञ्चः, वेपथुस्वरभङ्गादयश्च तथैवोत्पद्यमाना दृश्यन्ते लोके? यद्येवं नास्ति, तर्हि कवयः कि न जल्पन्ति कि न खादन्ति वायसाः' इत्यादि पूर्वत एव प्रसिद्धिं गताः कवयः किं मुधा समाकृष्यन्ते? अस्तु वा तथा, वयं तु कवीना-मुक्तिं लोकोत्तरामेव निदर्शयितुमिच्छामः।

विप्रलम्भशृङ्गारस्य शाप--प्रवास--मानप्रभृतिद्वारा अष्टभेदता स्वीकृता आकर-ग्रन्थेषु। यत्र च प्रवासरूपो भेदस्तत्र-प्रवासस्य भूत-भविष्यद्--वर्तमानावस्थाभिः प्रोषितपतिका—प्रवत्स्यत्पतिका—प्रवसत्पतिकाख्यास्त्रयो भेदा अङ्गीकृताः। किन्तु विद्याराममहाभागेन व्याकरणं गलहस्तयित्वा 'प्रोषित्पतिका'ख्यो नवीन इव भेदः स्वीकृतः। लक्षणं चास्याः—"सा प्रोषित्पतिका यस्याः प्रियो देशान्तरं गतः।" 'गतः' इति भूतकालानुरोधेन सेयं प्रोषित (प्र--उषितः, प्रवासं गतः) पतिर्यस्याः, इति प्रोषितपतिका स्यात्। किन्तु अनुष्टुप्छन्दोऽनुरोधेन "विरहोत्कण्ठिता प्रोषित्पतिका खण्डिता तथा। सा प्रोषित्पतिका यस्याः प्रियो देशान्तर गतः।' इत्यादि मुहुर्मुहुरुच्यते। यदीदं लेखकप्रमादेनैव संपन्नं चेद् भविष्यति तदिदं संशोधनीयमेव, किन्तु छन्दः? अस्तु, किं नाम पौरोभाग्येन?

ग्रन्थान्ते श्लोकसंख्याऽत्र ६२४ इति संकलिता संपादकमहाभागेन। ततश्च एतावन्मात्रेणैव ग्रन्थेन यदि साहित्यस्य संपूर्णोऽपि सारभागः संगृह्यते तर्हि जिज्ञासूनां कुतो वा न स्यादुपकारः। ग्रन्थकारोऽयम् राजस्थानीयः। आसीदस्य पूर्वं पारम्परिको निवासः उदयपुरराजधान्याम्। ततो जीविकावशात्कोटानगरे आगमनम्, तत्रैव चास्य ग्रन्थस्य प्रणयनमिति ग्रन्थान्ते कविना स्वयमुपनिबद्धम्। राजस्थाने राज्ञां गुणग्राहितया बहव एव असामान्यगुणसंपन्ना विद्वांसः, कलाकाराश्च समादरं महान्तमाश्रयं च लेभिरे। तत्रैव सुस्थिरप्रतिभास्ते तादृशानि कार्याणि चक्रुर्यानि न केवलं राजस्थानस्य, न वा केवलमस्य भारतवर्षस्यैव, अपितु संपूर्णस्यैव मानवजगतः सार्वदिककल्याणाय समभूवन्, भवेयुश्च। जयसिंहमहाराजेन ग्रहगणिते समागच्छन्तमन्तरं दृष्ट्वा समरकन्द,प्रभृतिषु प्रत्यन्तदेशेषु विदुषः प्रेषयित्वा 'सारणी' निर्मापयामासे, यस्या नाम तात्कालिकभारतशासकस्य मनःप्रसादनार्थम् 'जीज मुहम्मदशाही' इत्यकल्पयत सः। ग्रहाणां प्रत्यक्षपरीक्षायै काशी--जयपुर-देहल्यादिषु ज्यौतिषयन्त्रशाला निर्मापयामास, याः प्रेक्ष्य विवेकिनः पाश्चात्या अपि विस्मयन्ते। महाराजो जयसिंहो भारते तत्कार्यं समपादयत यद्धि पोपग्रेगरी (त्रयोदशः) युरोपे सपादयामास [के० ऑस्ट्रोनोमिकल् ऑब्जरवेटरी आफ् जयसिंह--पृ० २, १५, ४१, ६८। बेव करंसीज आव् द हिन्दूस्टेट्स आव् राजपूताना, पृ० ७२ टिप्पणी २]

सम्राड्जगन्नाथेन यूक्लिडस्य सम्पूर्णं रेखागणितमारव्यभाषातः संस्कृतभाषायामनूदितम्। Claudius ptolemy इत्यस्य (Almagest) ग्रन्थस्य आरव्यभाषानुवादाधारेण सिद्धान्तकौस्तुभो व्यरच्यत। सम्राड्-जगन्नाथेन तृतीयो ज्यौतिष-ग्रन्थः 'सम्राट्सिद्धान्तः' व्यरच्यत। जयसिंहेनैव 'विभागसारणी', 'मिथ्याजीवासारणी', डी० ला० हीरे इत्यस्य ग्रहगणितसारण्या आधारेण जयपुरस्य रेखांशोपरि संस्कृते दृक्पक्षसारणी' 'दृक्पक्षः' इति ग्रन्थद्वयं च निर्मापितम्।

पुण्डरीकरत्नाकरेण व्रततिथीनां निर्णयविषये 'जयसिंहकल्पद्रुमो' नाम महाविशालो ग्रन्थो निर्मितः। एवमन्यान्यविदुषां द्वारा राजस्थाने बहवस्ते ग्रन्था निर्मिताः, यान् समग्रमपि शिक्षितजगत्संमन्यते। अस्तु, किं नाम विस्तरेण। अद्य समयो राज्ञां विप्रतीपः, किन्तु प्राचीनराजस्थानेन भूयसी लोकसेवा संपादिता, या हि नवीनशासकैरपि न कदाचिद् विस्मर्तव्या।

साम्प्रतमपि राजस्थानसर्वकारेण संस्थापितं राजस्थानपुरातत्त्वमन्दिरं नाम प्राचीनानां हस्तलिखितपुस्तकानां संग्रहं विदधाति। आसते चास्य मन्दिरस्य सञ्चा-

लका मुनिश्रीजिनविजयसूरिमहोदयाः। एषां मुनिमहोदयानां सम्मान्यसञ्चालकत्वे 'पुरातनग्रन्थमालाऽपि' प्रकाश्यते चानेन मन्दिरेण। तदन्तर्गतोयं ग्रन्थरूपेण प्राकाश्यं नीतः करतलमधिगतो विद्यते सहृदयानां विदुषामिति।

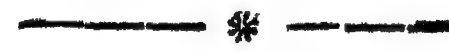
अस्तु, एतद्ग्रन्थसम्पादकस्य बहुरा श्रीगोपालनारायण M. A. महोदयस्य परिश्रमं मन्ये जिज्ञासवो जनाः समर्थयेरन् हृदयेन। प्रवर्द्धतामस्य महाभागस्य एवं-विधेषु कार्येषु लोकोपकारकारकः समुत्साह इति संवर्द्धयाम्याशीर्भिः।

'अस्तु प्रस्तुततत्त्वस्यपरिज्ञानाय सारतः।
स्थूलार्थप्रणिधानाय पानाय रसदीर्घिका ॥' १
इत्यावेदितवान् वस्तु प्रस्तुतग्रन्थसंगतम्।

मञ्जुनिकुञ्जः- २५।८।५८ } भट्टश्रीमथुरानाथशास्त्री जयपुरालयः॥ २



विषय-तालिका



॥ श्रीः ॥

प्रास्ताविकः परिचयः

पुण्यपत्तनस्थ-ऐल्फिन्स्टनविद्यालयस्य प्राध्यापकेन विपश्चिता पिटर्सनमहाशयेन स्वकीये हस्तलिखितग्रन्थानां तृतीये गवेषणाविवरणे* कविविद्यारामविरचिताया रसदीर्घिकायाः समुल्लेखः कृतः। सोऽयमुल्लेखः षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतसंख्यान्वितानां (३३६) तेषां हस्तलिखितग्रन्थानां विवरणे वर्तते, ये खलु १८८४-८६ ईसवीयवत्सरेषु सर्वकार (सरकार) कृते क्रीता आसन्। पुस्तकस्यास्य विवरणं तत्रैवं दत्तम्--पत्राणि ६६ ; पङ्क्तयः प्रतिपत्रम् ८ ; अक्षराणि २८ इति।

श्री पी० व्ही० काणेमहोदयेनापि स्वीयेऽलङ्कारशास्त्रस्येतिहासे परिशिष्टेषु अलङ्कारग्रन्थानुक्रमणिकायां रसदीर्घिकाया विद्यारामस्य च सूचनं विहितम्। सेयं सूचनापि तदेवोक्तविवरणमवलम्बते इति सम्भावये।

राजस्थानपुरातत्त्वान्वेषणमन्दिरस्य हस्तलिखितग्रन्थसङ्ग्रहकृते १९५५-५६ ई० वर्षयोः सङ्गृहीतग्रन्थानां सूचीपत्रस्य सम्पादनसमये मत्सहयोगिना श्रीमल्लक्ष्मीनारायणगोस्वामिमहाशयेन रसदीर्घिकायाः पुस्तकं प्रति मामकीनमवधानमाकृष्टम्। पुस्तकमिदं परिपूर्णं विवरणञ्चास्यैवं वर्तते, आकारः १०¼"×४½" पत्राणि ४८; पंक्तयः प्रतिपृष्ठम् १०; प्रत्येकपंक्तौ २८ अथवा २९ अक्षराणिसन्तीति। कृतेरस्याः पुष्पिकावलोकनेन विज्ञातं भवति यत् कविविद्यारामस्तस्मिन् समये अर्थादष्टादशशताब्द्यां साहित्यविद्यार्थिनां कृते सर्वेषामेव ज्ञातव्यविषयाणां सारल्येन बोधनाय तामिमां रसदीर्घिकां विरचितवान्। यथा हि तेनैव प्रतिज्ञातम्--

> "अनायासेन बालानां रसास्वादनहेतवे ।
> विद्यारामः करोत्येतां मनोज्ञां रसदीर्घिकाम् ॥१-३

---

* A Third Report of Operations in Search of Sanskrit Manuscripts in the Bombay Circle, April 1884-March 1889 by Prof. Peterson. (Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, 1887).

प्रसङ्गेन मयैतत्कृतिविषये पुण्यपत्तनस्थभाण्डारकरप्राच्यविद्याशोधसंस्थानस्य संग्रहाध्यक्षाः समादरणीयाः श्री प०कृ० गोडेमहोदयाः पत्रद्वारा पृष्टाः। तैरिदमुत्तरं लिखितम्—"कृतिरियमतीव दुर्लभा (rare) ऽस्ति। पिटर्सनमहोदयेन क्रीतं यद्धि पुस्तकमस्माकं संग्रहे वर्तते तद्दुर्भाग्येनापूर्णमेव। पत्राणि चास्य ३३ तः ५० पर्यन्तमप्राप्तानि सन्ति" इति।

तदनन्तरमहं मदीयविभागाध्यक्षान् सम्मान्यसञ्चालकान् श्रीमुनिजिनविजयमहानुभावान् पुरातत्त्वमन्दिरसंग्रहे प्राप्तं रसदीर्घिकायाः पूर्णं पुस्तकं पर्यदर्शयम् तत्सम्बन्धे श्रीगोडेमहोदयस्याभिप्रायं चापि निवेदितवान्। ततस्ते कृपया तामेतां कृतिं द्वयोरपि पुस्तकयोराधारेण सम्पादयितुं मां नियुक्तं कृतवन्तः।

पूर्वं पुरातत्त्वमन्दिरीयपुस्तकस्य प्रतिलिपिः कृता, ततः पुण्यपत्तनतो भाण्डारकरप्राच्यविद्याशोधसंस्थानस्य पुस्तकमानाय्य पाठमेलनमनुष्ठितम्। यथाशक्यमुभयपुस्तकाभ्यां संगतः शुद्ध एव च पाठः संगृहीतः। पादटिप्पणीषु पूर्वं पुस्तकं 'क' प्रति नाम्ना अपरञ्च 'ख' संकेतेन निर्दिष्टम्। लिपिकाले उभयत्राप्यनुल्लिखिते क' पुस्तकमपेक्षाकृतं प्राचीनं शुद्धपाठयुतञ्च विद्यते। पूर्वपुस्तके लिपिस्थानस्याप्युल्लेखो नास्ति परन्तु 'ख' प्रतिलिप्यां तद्वर्तत एव। पुस्तकमेतत् जयपुरनगरे लिखितमस्ति। अस्य लिपिकर्त्ताऽमररामो गौडब्राह्मणः महानन्दपाठकस्य पुत्र आसीत्। अयं हि 'द्यौसा' ग्रामे निवसति स्म। द्यौसाग्रामः जयपुर-देहली-मार्गे जयपुरादेकोनविंशतिक्रोशमितः स्थितः। अत्रैव पूर्वं जयपुरमहाराजैः स्वीया राजधानी संस्थापिताऽऽसीत्। द्वयोरेव पुस्तकयोः यत्रकुत्रचित् शब्दार्थाः लघुटिप्पण्यश्च प्रदत्तास्ताः पादटिप्पणीषु पुस्तकेऽस्मिन् यथावत् समाविष्टाः, तेषां पुरस्तात् 'क' अथवा 'ख' पुस्तकस्य सङ्केतश्चापि विहितः। कस्यचिद्धि मशब्दस्यार्थस्याथवाऽन्यसंसूचनस्य यथावसरं सम्पादकेन स्वपक्षात् टिप्पणी प्रस्तुता, तदग्रे 'सं०' इति सङ्केतितम्।

रसदीर्घिकानिर्माता कविविद्यारामः खलु अहम्मदाबादनगरान्तिकपसुंजाख्यग्रामस्य निवासी समवर्त्तत। तदनन्तरमसावुदयपुरमागत्य वसतिञ्चकार। ततश्चाजीविकायै कोटाऽभिधाने नगरे समागतः, तत्रैव च ग्रन्थमेनं व्यरीरचत्। उक्तं हि स्वयं तेन—

"पसुंजाख्ये ग्रामे प्रथममदाबादनिकटे
निवासो यस्यासीत्तदुदयपुरेऽनन्तरमथो।

ततश्च श्रीकोटाभिधनगर आजीवनवशा—
दिमं विद्यारामः स किल सुभगं ग्रन्थमकरोत् ॥"

श्रीवेणीरामात्मजोऽयं विद्यारामो विसलनगरीयो गुर्जरभट्ट आसीत्। एतज्जातीयानां ब्राह्मणानां वसतय इदानीमप्युदयपुर-जयपुर-कोटाप्रभृतिनगरेषु वर्त्तन्ते। कवेः पितामहस्याभिधेयं व्रजनाथइत्यासीत्। अस्य महाभागस्य पिता पितामहश्चोभावपि स्वस्वसमयस्य प्रकृष्टपण्डितावास्ताम्।

रसदीर्घिकाया रचनाकालविषये कविः कथयति—
"षड्व्योमाद्रिमहीमिताङ्कगणिते संवत्सरे वत्सले
ज्येष्ठस्यासितसप्तमीभृगुदिने कोटाभिधाने पुरे।
एनां सज्जनरञ्जनाय परितः पूर्णां रसैर्दीर्घिकां
विद्यारामकविः स्वयं सुललितां पर्याप्तरूपां व्यधात् ॥"

एवं १७०६ वैक्रमाब्दीयेयं रचना त्रिशत (३००) वर्षेभ्यः प्राक्तनीति सिद्धयति।

इतोऽधिको वृत्तान्तो न कवेर्जीवनविषये विज्ञायते न चैतन्महाभागेन विरचितोऽन्यः कश्चिद् ग्रन्थ एव समुपलभ्यते। एवं ह्यनुमीयते यदयं कविर्नासील्लब्धराज्याश्रयः, अन्यथेतरकवीनामिव तात्कालिकपरम्परानुसारं च तेनापि स्वस्याश्रयदातुः प्रशस्तिरवश्यमेव निजकृतौ टङ्किता स्यात्। विद्यारामस्तु केवलं विद्यानुरागी भगवतः श्रीकृष्णस्य च भक्तोऽभवत् यथाहि प्रकटीभवति ग्रन्थस्यास्य मङ्गलाचरणेन समाप्तौ च रचनायाः श्रीकृष्णाय समर्पणेन।

परिशिष्टे उद्धृतां मङ्गलाचरणस्य प्रथमपद्यस्य संदर्भकथां मह्यं विक्रमपुर-(बीकानेर) निवासिनो वयोवृद्धा विद्वांसः श्रीमन्तो भगीरथगोस्वामिमहाभागाः सूचितवन्तस्तदर्थमहं तेषामाभारभारं वहामि। गुरुवर्याः साहित्यशास्त्रविचक्षणाः कविशिरोमणयो भट्टश्रीमथुरानाथशास्त्रिमहानुभावाः सारगर्भितां भूमिकां विलिख्य मामुपकृतवन्तः, लघुपुस्तिकायाश्चास्याः समुपयोगितां समेधितवन्त इति श्रीगुरुचरणेभ्यः प्रणतिपुरस्सरमनेकशो धन्यवादान् साधुवादांश्च समर्पयामि। पुरातत्त्वमन्दिरस्य सम्मान्यसञ्चालकैः प्राप्तान्तर्देशीयप्रतिष्ठैः पुरातत्त्वाचार्यैर्मुनि-श्रीजिनविजयमहाभागैर्मदीयं प्रयासमिमं मन्दिरद्वारा प्रकाशयिष्यमाणग्रन्थमालायां स्वीकृत्य यदहं भृशमनुगृहीतोऽस्मि सम्पादनकार्ये च समये समये दर्शितमार्गोऽस्मि तदर्थं श्रद्धेयान् महानुभावान् तान् प्रति पौनःपुन्येन कृतज्ञताप्रकाशनं तु मदीयं

कर्तव्यमेव। प्राग्रूप(प्रूफ)संशोधनादिकार्ये मम सहयोगिसुहृदौ श्रीमल्लक्ष्मीनारायणगोस्वामि--विश्वेश्वरद्विवेदिमहोदयौ सोत्साहं यत्साहाय्यं कृतवन्तौ तदर्थं तावपि सहर्षं मया धन्यवादैरभिनन्द्येते।

आशासे राजस्थाने प्रणीताया अद्यावध्यप्रकाशितायाश्चैतस्याः कृतेः प्रकाशनेन संस्कृतसाहित्यस्यानुसन्धानार्थिनो विद्वांसो लाभान्विता बोभवेयुरिति विनिवेदयति बहुरोपाह्वो

दीपावली, २०१५ वि०

विनयपरायणो
गोपालनारायणः

॥श्रीगणेशाय नमः॥ क्रीडन्मुग्धवधूर्हसन्निति मुहू रासेहरं तं हरं त्वायच्छे
प्राचं विलोक्य समनाकष्णुगमन्पुआकाल्वरः॥ धृत्वामुष्य शिरस्तलेग्रहूतितो
निःशोणितं पातयन्त्रा चेतन्मणिमर्पयेन्दिशातु वः श्रेयः शातं श्रीपतिः॥१॥
कल्याणं कमलाकुचव्यतिकरप्रोन्मृष्टदीप्तद्युतिर्नित्यं केटभविद्विषो वि
तनुतात्कण्ठस्थितः कौस्तुभः॥ कल्पांते कलनी कुलस्य जगतः श्रीशास्य व
क्त्रानिलस्य श्रीत्वाणन्तेनिसस्तु रमितायस्मात्स्फुलिंगाइव॥२॥ त्रनाया
सेन बालानारसास्वा[illegible]दनहेतवे॥ विद्याराम करोम्येतां मनोज्ञां रसदीर्घिका
॥३॥ स्वकल्पितोदाहरणैः [illegible] मलस्पैर्विरच्यते यारसदीर्घिकेय॥ इच्छास्ति
येषां रसरूपबोधे तैः शर्मणासा सुगमावगाह्या॥४॥ येसाऽनन्यपयोधयः क
कल्पः प्रलयस्तस्य अंते सष्टिकालसंवृत्तः प्रलयः कल्पउत्पमा॥५॥

रचना

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर में सुरक्षित रसदीर्घिका के आदि-पृष्ठ का चित्र

गुणमगुणमप्युद्धवचित्ताः केप्युच्चैस्तरमन्नि कुर्वंति हि संतः ॥१५१॥ परोपकाराय
मया निबद्धा मनोरमा यारसदीकेयं। विनिर्मितोस्या स्तु कृतं यदस्यास्तु दस्तु कर्म्म
पणम त्वयमे ॥१५८॥ ॥ इति रसदीर्घिकाख्या काव्यव्यवस्थानिरूपणं ना
म पंचमं सोपानं ॥ ॥ समाप्तोयं ग्रंथः ग्रंथस्यास्य श्लोक संख्या ॥६२५॥ ॥

राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर में सुरक्षित रसदीर्घिका के अन्तिम पृष्ठ का चित्र

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

कवि विद्याराम विरचिता

र स दी र्घि का

क्रीडन्मुग्धवधूर्हसन्निशि मुहू रासे हरन्तं हठात्
ता यक्षेशचरं विलोक्य स मनाक् शुग्मन्युशङ्कात्वरः ।
धृत्वाऽमुष्य शिरस्तलं प्रहृतितो निःशोणितं पातयन्
भ्रात्रे तन्मणिमर्पयन् दिशतु वः श्रेयःशतं श्रीपतिः* ॥१॥

कल्याणं कमलाकुचव्यतिकरप्रोन्मृष्टदीप्तद्युति-
र्नित्यं कैटभविद्विषो वितनुतात् कण्ठेस्थितः कौस्तुभः ।
कल्पान्ते (१) कलनाकुलस्य जगतः श्रीशस्य वक्त्रानिल-
स्पर्शात् प्राणभृतो निसस्रु रमिता यस्मात् स्फुलिंगा इव ॥२॥

अनायासेन बालानां रसास्वादनहेतवे ।
विद्यारामः करोत्येतां मनोज्ञां रसदीर्घिकाम् ॥३॥

स्वकल्पितोदाहरणैः (२) सलक्ष्यैर्विरच्यते या रसदीर्घिकैषा ।
इच्छाऽस्ति येषां रसरूपबोधे तैः शर्मणा सा सुगमाऽवगाह्या ॥४॥

ये सौजन्यपयोधयः कृतधियः पूर्णाः सदृश्यै (३) गुणै-
र्ज्ञातारः कवितारहस्यरचनामर्मोल्लसत्कर्मणाम् ।

---

* पद्यस्यास्य भागवतीसन्दर्भकथा परिशिष्टेऽवलोकनीया । (सं०)

१. कल्पः प्रलयस्तस्य अन्ते सृष्टिकाले संवृत्तः । प्रलयः कल्प इत्यमरः ।
(ख) प्रलयान्ते सृष्टिकाले, कलना रचना ।

२. स्वकल्पितोदाहरणैरिति (क) प्रतौ ।

३. (ख) सदृस्यै । सदृक्षैरिति साधुः पाठः । 'दृग्दृशवतुषु' (पा॰ सू. ६. ३. ८९) इत्यत्र 'दृक्षे चेति' वार्तिकबलादनुक्तोऽपि क्सः कल्प्यते-इति त्यदादिषु (३. २. ६०) इत्यत्र भाष्यप्रदीपोद्योतकारः । (सं०)

तेषामेष पुरो मया विरचितो याश्चाञ्जलिर्मामको
ग्रन्थोऽयं विरसोऽपि कोमलधिया स्वीकार्य एवेति यत् ॥५॥

दोषः कदाचिद् भविताऽत्र कश्चिद् गुणज्ञदृष्टस्तु गुणः स भावी ।
स्पर्शात् किल स्पर्शमणेः क्व तिष्ठेल्लोहस्य लोहस्थितजातिमत्त्वम् ॥६॥

भरतोक्तानुसारेण संक्षेपादिह कथ्यते ।
विशेषापेक्षणं येषां तैरन्यत्रावलोक्यताम् ॥७॥

रसो वै स इति श्रुत्या रसस्य विष्णुरूपता ।
अतो विष्णुमयं विश्वं यथा रसमयं तथा[1] ॥८॥

तत्र रसत्त्वं नाम—

भावैस्तैस्तैर्हि यश्चित्तो पूर्यमाणः समंततः ।
उद्रिक्तः कोऽपि निर्यायात् भावः[2] सान्द्रो[3] रसः स्मृतः ॥९॥

भावो रसानुकूलोऽन्यो विकारः[4] स निगद्यते ।
शृङ्गारस्यानुगत्त्वेन रसाः स्वारस्यमाप्नुयुः ॥१०॥

रस्यतेऽनुभवं स्वस्यानीयते यः स वा रसः ।
रसत्वं नाम जातिर्त्येकेषामस्ति[5] निर्णयः ॥११॥

प्राचां मते तु—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमान उत्कर्ष[6] स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥१२॥

नवधा स रसो ज्ञेयः शृङ्गारादिप्रभेदतः ।
शृङ्गारस्तेषु मुख्योऽस्ति यथा देवेषु केशवः ॥१३॥

---

१ (क) त्वथा । २ चित्तवृत्तिविशेषः ३ (ख) सांगो । ४ (ख) मनसः
५ (ख) जातिर्वैत्येकेशा (घ) मस्ति निर्णयः ।
६ (क) उत्कर्षः ।

ते रसा यथा—

शृङ्गारहास्यौ करुणश्च रौद्रो वीराभिधश्चाथ भयानकश्च।
वीभत्सनामाऽद्भुतशान्तसंज्ञौ रसा नवैते कथिताः कवीन्द्रैः ॥१४॥
रसानां सूक्ष्मरूपाणि स्थायिभावाश्च सम्मताः।
स्थायित्वव्य[प]देशोऽत्र* स्थायित्वाद्रसरूपतः× ॥१५॥

रसप्रकाशे तु—

सजातीयैर्विजातीयैर्भावैर्ये त्वतिरस्कृताः।
क्षीरादिवन्नयन्त्यन्यं+ स्वात्मत्त्वं स्थायिनो हि ते ॥१६॥

ते च—

रतिश्च हासश्च तथा च शोकः क्रोधस्तथोत्साहभये जुगुप्सा।
निर्वेद÷ युग्विस्मयकोऽष्टमश्चैते स्थायिभावाः क्रमतो रसानाम् ॥१७॥

स्थायिभावा यथासङ्ख्यं नवानां नवसम्मताः।
लक्षणानि वदिष्यन्ते रत्यादीनां यथारसम् ॥१८॥

विभावाश्चानुभावाश्च यस्य यस्य रसस्य ये।
संभवन्ति[१] वदिष्यन्ते तेऽपि तत्तद्रसोक्तिषु ॥१८॥ (१६)

कारणानि विभावास्तु रसानां परिकीर्तिताः।
अनुभावाश्च[२] कार्याणि येऽन्ये ते सहकारिणः[३] ॥१६॥

---

* निर्देशो। × रसरूपेणेत्यर्थः। + भावं (ख) ÷ वैराग्यं (ख)
१ (ख) ये भवन्ति। २ (ख) अनुभावास्तु। ३ सञ्चारिणः।

सात्त्विका अथ हावाश्च भावा ये व्यभिचारिणः ।
एतेषां नियमो नास्ति युगपत्सकलोद्भवे ॥२०॥

कुत्रचिद् द्वौ त्रयो वाऽपि चत्वारः क्वापि पञ्च च ।
षट् सप्त क्वापि चाष्टौ वा न समग्रा न चैकला: ॥२१॥

अथ विभावादीनां सामान्यतो लक्षणानि—

उत्पादयन्ति ये चैतान् विभावास्ते द्विधा मताः ।
आलम्बनाभिधश्चैकस्त्वन्य उद्दीपनाभिध ॥२२॥

आलम्ब्योत्पद्यते यं वै रस आलम्बनं हि सः ।
उद्दीपयति यो वै तं स उद्दीपनकः स्मृतः ॥२३॥

आलम्बनविभावस्तु रसानां नायको* मतः ।
सामान्यतो हि सर्वेषां श्रृङ्गारस्य विशेषतः । ॥२४॥

ज्ञापयन्ति रसोत्पत्तिं तेऽनुभावाश्च कीर्तिताः ।
स्वेदादयः शरीरस्य धर्माः सात्त्विकसंज्ञकाः[१] ॥२५॥

निर्वेदग्लानिशङ्काद्या[२] भावाश्च व्यभिचारिणः[३] ।
धर्मा ये मनसः प्रोक्ताश्चैते सर्वरसानुगाः ॥२६॥

रसेष्वितस्ततो यस्माच्चरन्त्येते तथाभिधाः ।

स्त्रीणां श्रृङ्गारजा चेष्टा हावा लीलादयः स्मृताः ।
श्रृङ्गारस्यानुगाश्चैते नेतरेषामिति स्थितिः ॥२७॥×

अथ सात्त्विका भावा यथा–

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गश्च वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥२८॥

---

* नायक इत्युपलक्षणं सर्वे प्राणिन इति ।

१ सत्त्वे देहे भवाः सात्त्विकाः ।

२ (ख) निर्वेदज्ञानशङ्काद्या । ३ व्यभिचारिनामानः ।

× 'क' प्रतौ २७ तमः श्लोकः अर्द्धालित्रयात्मकः ।
'ख' प्रतौ २७ श्लोकस्य पूर्वपंक्तिरेवं वर्तते—

अथैषां लक्षणानि—

गतेर्निरोधःस्तम्भः स्यात्स्वेदोऽङ्गे सलिलोद्गमः
रोमोत्थानञ्च रोमाञ्चः स्वरभङ्गः स्खलद्गिरः ॥ २६ ॥

वैवर्ण्यमन्यथाभावो वर्णस्य प्रकृतस्य यः ।
विकारजनितं चक्षुःसलिलं कथ्यतेऽश्रु वै ॥ ३० ॥

चेष्टारोधः शरीरस्य प्रलयः परिकीर्तितः ।
इति सात्विकभावलक्षणम् ॥

अथ व्यभिचारिभावाः यथोक्ताः काव्यप्रकाशे—

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ ३१ ॥

व्रीड़ा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव तु ॥ ३२ ॥

सुप्तिर्विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव तु ॥ ३३ ॥

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
रसेष्वेते समा भिन्ना विभावाश्चानुभावकाः ॥ ३४ ॥

अथैषां स्वरूपलक्षणानि—

हेयत्वबुद्धिः संसारे निर्वेदः स्वावमाननम् ।
रत्यायासादिभिर्ग्लानिः कर्मशैथिल्यमुच्यते ॥ ३५ ॥

इष्टहानावनिष्टस्य प्राप्तौ शङ्काविचारणा ।
परोत्कर्षासहिष्णुत्वमसूया परिकीर्तिता ॥ ३६ ॥

परानिष्टाचिकीर्षा वाऽसूया दौर्जन्यकादिजा ।
हर्षोत्कर्षो मदः पानाद्युद्भूतो यश्च चेतसि ॥ ३७ ॥

तत्रोत्तमस्य निद्रा स्याद्धसितं मध्यमस्य च ।
रोदनन्त्वधमानां हि त्रिविधं मदचेष्टितम् ॥ ३८ ॥

पराभवस्त्वथायासप्रभवः श्रम उच्यते ।
उत्थानाद्यक्षमत्वं यत् तदालस्यं श्रमादिना ॥ ३९ ॥

दुःखातिरेको[१] दैन्यं स्याद् दारिद्र्यविरहादिजः ।
चित्तैकाग्र्यात्मकं ध्यानं चिन्तात्विष्टाद्यनाप्तिषु ॥ ४० ॥

कार्याकार्यापरिच्छेदो मोह इत्यभिधीयते ।
ज्ञानं संस्कारजन्यं यद्द्विविधं सा स्मृतिःस्मृता ॥ ४१ ॥

द्विविधं च प्रत्यभिज्ञारूपं स्मरणरूपं च–

ज्ञानशक्त्यादिभिर्यः स्यात् सन्तोषः सा धृतिर्मता ।
स्वच्छन्दकर्मसंकोचो व्रीडा दुश्चरितादिभिः ॥ ४२ ॥

क्रियायाः शीघ्रता या सा ज्ञेया चपलता बुधैः ।
चेतःप्रसादो हर्षः स्यात् प्रियप्राप्त्यादिसम्भवः ॥ ४३ ॥

संभ्रमः सहसावेगस्त्वप्रियश्रवणादिजः ।
जडता व्यवहारस्य सर्वस्य त्याग उच्यते ॥ ४४ ॥

सर्वाधिकत्वधीः स्वस्मिन् सर्वस्मिन्त्वधमत्वधीः[२] ।
बलैश्वर्य्यादिजनिता स गर्व इति कथ्यते ॥ ४५ ॥

१—[ख] दुःखाधिक्यम् ।
२—[ख] सर्वस्मिन्नधमत्वधीः ।

आरब्धकृत्यानिर्वाहात्[1] सङ्कटादिष्टसंशयात् ।
चित्तोत्साहक्षयो यः स्याद्विषादः स त्रिधा मतः ॥ ४६ ॥

सहायान्वेषणोपायचिन्ताद्या उत्तमस्य तु ।
वैमनस्यादयो भावा मध्यमानां भवन्ति च ॥ ४७ ॥

ध्यानमुद्धावनं वक्त्रशोषनिःश्वासकादयः ।
अधमानां भवन्त्येते भावा निद्रादयस्तथा ॥ ४८ ॥

कालासहिष्णुतौत्सुक्यं प्रियस्मृत्यादिसम्भवम् ।
निद्रा त्वचि[2] समावेशो मनसोऽन्येन्द्रियैः[3] सह ॥ ४९ ॥

चित्तक्षोभस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशजः स्मृतः ।
सुप्तिर्मनःप्रवेशो वै नाड्यां पुरीततः[4] स्मृता ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणां प्रकाशो य आद्यो निद्रात्यये भवेत् ।
विबोधः स हि विज्ञेयो जृम्भाद्युन्मर्दनादिभिः ॥ ५१ ॥

पराहङ्कारशमनोत्समीहामर्ष उच्यते ।
अवहित्थमथाकारसङ्गोपनमुदीरितम् ॥ ५२ ॥

उग्रता निर्दयत्त्वं यत् तस्करोत्ताडनादिषु ।
मतिर्यथार्थविज्ञानं[5] शास्त्रसञ्चिन्तनादिभिः ॥ ५३ ॥

१—(ख) निर्वाहः ।
२—(ख) स्वप्नवहनाडिकायां त्वक्
३—(ख) नेन्द्रियैः सह ।
४—(ख) पुरि । अत्रं पुरी तत् इत्यमरः । पुरीतती । स्वप्ने पुरीततीनाड्यां प्रविशति मनः (सं०)
५—(ख) यथार्थज्ञानं स्यात्

व्याधिर्ज्वरादिविकृतिः क्लेशाऽजीर्णादिसम्भवा ।
विना विचारमाचार उन्मादः परिकीर्तितः ॥ ५४ ॥

वित्तनाशादिजो हासजल्पनाद्यात्मको वृथा ।
प्राणनिष्क्रमणो[१] देहान्मरणं परिकीर्तितम् ॥ ५५ ॥

विक्षोभो मनसस्त्रासः करालप्रेक्षणादिजः [२] ।
विचारपूर्वकः क्षोभो भीतिराकस्मिकस्तु सः [३] ॥ ५६ ॥

वितर्कस्तु विचारःस्याच्चतुर्धा संशयादिकः [४] ।
संशयात्मा विचा[रा]त्मा तथानध्यवसायकः [५] ।
तुर्यो विप्रतिपत्यात्मेत्येवं तर्कश्चतुर्विधः ॥ ५७ ॥

नैतेषां ग्रन्थभूयस्त्वादत्रोदाहरणोक्तयः ।
संक्षेपतः स्वरूपं तु बालबोधाय दर्शितम् ॥ ५८ ॥

यद्यद्वस्तुभिरेतेषां [६] समुत्पत्तिः समुद्भवेत् ।
तेप्यन्यत्रावलोक्या वै नात्रोक्ता विस्तराद्भयात् ॥ ५९ ॥

हावाः शृङ्गारजा भावाः शृङ्गारस्यानुगामिनः ।
तस्मादग्रे वदिष्यन्ते शृङ्गारस्य निरूपणे ॥ ६० ॥

इति रसदीर्घिकायां रसपरिभाषा नाम
प्रथमं सोपानम् ॥

१—(ख) प्राणनिष्क्रमणम् ।

२—(ख) करालप्रेक्षणादिभिः (खड्गदर्शनादिजः) ।

३—(ख) विचारपूर्वको यो मनसो विक्षोभः स तु भयम् । आकस्मिकः क्षोभस्त्रास इत्यर्थः ।

४—(ख) सशयादिभिः ।

५—(ख) उत्कटकोटिकः संशयोऽध्यवसायकः ।

६—(ख) यद्यद्वेतुभिरेतेषां ।

[द्वितीयं सोपानम्]

अथ शृङ्गारः–

शृङ्गारः प्रथमं तत्र मुख्यत्वात् सकलेष्वपि ।
स्थायिभावादिसंयुक्तः संक्षेपाद्धि निरूप्यते ॥ १ ॥

स यथा, शृङ्गारस्य स्थायिभावो रतिः, सा च–

यूनोरन्योन्यसंस्नेहः प्रगाढो रतिरुच्यते ।
इतरेषु[1] रतिर्या[2] स्यात् सा भाव इति कथ्यते ॥ २ ॥

सा रतिर्यथा–

गुरुसन्निधिसन्निविष्टयोस्त्रपयाऽशक्नुवतोर्न भाषितुम् ।
अनुरागभरं[3] विलासिनोर्विवृणोति व्यतिवीक्षणं मुहुः ॥ ३ ॥

शृङ्गारलक्षणं तु–

रतिभावश्च सम्पूर्णः शृङ्गारः परिकीर्तितः ।
आनन्दानुभवो वा यो यूनोर्योगे परस्परम् ॥ ४ ॥

संयोगो[4] दर्शनाद्यैर्यत् सुखं यूनोरुदीरितः ।
विप्रलम्भो वियोगे यत् तयोरन्योन्यतोऽसुखम् ॥ ५ ॥

अथास्य दैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः स्मृतो बुधैः ।
स्थितः स्त्रीपुंसयोरेष उद्दिश्यान्योन्यमिष्टयोः ॥ ६ ॥

सम्भोगशृङ्गारो यथा–

पादेन पादं च करं करेण संयोज्य कायेन मिथश्च कायम् ।
निपीडयन्तौ स्वतनू युवानौ कुर्वात आत्मैक्यमिवैकचित्तौ[5] ॥ ७ ॥

---

१. पदार्थेषु (ख) । २. प्रीतिः (ख) । ३. (ख) अनुरागकलां ।
४. संभोगो । (क) । ५. (क) आत्मैकं (देहैक्यम्) ।

अथ शृङ्गारविभावः

आलम्बन–विभावोऽस्य नायिकानायकौ मिथः।
उद्दीपनविभावस्तु ऋतुमाल्यादिकं स्मृतः॥ ८॥

तत्र नायकविषयिकशृङ्गारस्यालम्बनविभावो नायिका–

सा च–

पूर्णेन्दुवदना पद्मपत्रनेत्रा नितम्बिनी।
स्वर्णवर्णा विदग्धेदृग्विधा या नायिका तु सा॥ ९॥

सामान्यतस्त्रिधा ज्ञेया नायिका रसकोविदैः।
स्वकीया परकीया च सामान्या चेति भेदतः॥ १०॥

तत्र स्वकीया–

विवाहिता विधानेन सच्छीलादिगुणान्विता।
स्वामिन्येवानुरक्ता या स्वीया सा[१] परिकीर्तिता॥ ११॥

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीयापि त्रिविधा मता।
ईषत्कामा रतौ वामा मुग्धेषद्यौवनोदया॥ १२॥

वल्लभेन सह स्पष्टं पृष्टा ब्रूते न लज्जया।
सापराधे प्रिये तूष्णीं केवलं रोदिति स्थिता॥ १३॥

अज्ञातयौवना ज्ञातयौवना द्विविधापि सा।
समानलज्जामदना मध्या सा परिकीर्तिता॥ १४॥

अथवा

सतृष्णा सुरतस्वादे मध्या यौवनशालिनी।
त्रिधा मानदशायां सा धीराऽधीरोभयात्मिका॥ १५॥

१—(ख) स्वकीया परिकीर्तिता।

सनिश्वासं प्रियं धीरा वक्रोक्त्या वक्ति सागसम् ।
वल्लभं वचनैः क्रूरैरधीरा तुदति क्रुधा ॥ १६ ॥

सवाष्पं वक्रवचनैर्धीराधीरा वदेत् प्रियम् ।
ज्ञेयो ग्रन्थान्तरादासामुदाहरणविस्तरः ॥ १७ ॥

प्रगल्भा पूर्णकन्दर्पा पूर्णयौवनजोन्मदा ।
रतौ गाढं प्रियस्याङ्गे विलीनेव रसाद्भवेत् ॥ १८ ॥

रतिकेलिकलाभिज्ञा सुतरां सुरतप्रिया ।
रतेष्वानन्दसन्दोहान्मूर्च्छितेव भवत्यसौ ॥ १९ ॥

प्रगल्भाऽपि त्रिधा माने धीराधीरादिभेदतः ।
औदासीन्यन्तु धीरायाः प्रगल्भाया भवेद्रते ॥ २० ॥

आकारगोपनं स्वस्या मिथ्यादरविचेष्टितैः ।
अधीरा निष्ठुरा प्रेष्ठं पीडयेत्तर्जनादिभिः ॥ २१ ॥

धीराधीरा प्रगल्भा तु द्विविधैस्तैर्गुणैर्युता ।
एवं भेदाः स्वकीयायाश्चतुर्दश परिश्रुताः ॥ २२ ॥

तथा हि–

मध्या प्रगल्भा प्रत्येकं त्रिधा धीरादिभेदतः ।
ताः प्रत्येकं द्विधा ज्येष्ठाकनिष्ठाभिधभेदतः ॥ २३ ॥

भर्तुर्या वल्लभाऽत्यन्तं ज्येष्ठा सा परिकीर्तिता ।
हीनस्नेहा कनिष्ठास्ति न विवाहक्रमस्तयोः [१] ॥ २४ ॥

---

१. ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वयोः (ख) ।

मुग्धा तु द्विविधा चैवं सा चतुर्दशधा मता ।
अस्त्यासां रसमञ्जर्यां विस्तरेण निरूपणम् ॥ २५ ॥

॥ इति स्वकीया ॥

अथ परकीया–

परकीया परेणोढा सती याऽन्यरता भवेत् ।
परोढा कन्यका चेति द्विविधा सापि सम्मता ॥ २६ ॥

अनूढा कन्यका रूढयौवनाऽपि पितुर्गृहे ।
पुरुषाकाङ्क्षिणी स्यान्तमुग्धा तुल्यविचेष्टिता ॥ २७ ॥

कन्यायाः परकीयात्वं भविष्यत्पत्यपेक्षया ।
पुरुषान्तरगामित्वात् सिद्धमेवेति निश्चयः ॥ २८ ॥

परोढा वञ्चयित्वा स्वं पतिं जाररता तु या ।
लक्षिता मुदितेत्येवं परोढा विविधा मता ॥ २९ ॥

॥ इति परकीया ॥

अथ सामान्यवनिता–

सामान्या द्रव्यदानाद्या सर्वेषां वनिता भवेत् ।
त्यक्तनीचोच्चभावा सा वेश्या वित्तैकवल्लभा ॥ ३० ॥

कदाचित् सा विना द्रव्यं गुणै रक्ता भवेद्यदि ।
तदा गुणवती प्रोक्ता यथा सा कामकन्दला ॥ ३१ ॥

सामान्यवनितायां तु शृङ्गारो वर्ण्यते हि यः ।
तस्या द्रव्यैकचित्तत्वाच्छृङ्गाराभास एव सः ॥ ३२ ॥

॥ इति सामान्यवनिता ॥

स्वकीयाद्या इमाः सर्वाः प्रत्येकमष्टधा मताः ।
विरहोत्कण्ठिता प्रोषितपतिका खण्डिता तथा ॥ ३३ ॥

विप्रलब्धा च कलहान्तरिता चाभिसारिका ।
स्वाधीनपतिका वासकसज्जाष्टाविमाः स्मृताः ॥ ३४ ॥

तत्र–

विलम्बे सति कान्तस्यारुष्टस्यागमनं प्रति ।
योत्सुकानेकसंकल्पा विरहोत्कण्ठिता तु सा[1] ॥ ३५ ॥

सा प्रोषितपतिका यस्याः प्रियो देशान्तरं गतः ।
मालिन्यं जागरः कार्श्यमस्याश्चेष्टाऽनवस्थितिः ॥ ३६ ॥

रात्रौ स्थित्वा परागारे[2] तत्सम्भोगाङ्कचिह्नितः ।
प्रियो यस्या गृहं प्राज्ञ[त]स्त्वागच्छेत् सा हि खण्डिता ॥ ३७ ॥

निश्वासमोचनं चिन्ताऽस्फुटालापोऽश्रुमोचनम् ।
तूष्णींभावादयश्चेष्टाः खण्डितायाा भवन्ति हि ॥ ३८ ॥

अप्राप्ते कृतसंकेते प्रिये या व्यथिता तु सा ।
विप्रलब्धाऽश्रुनिःश्वासचिन्ताद्यस्या विचेष्टितम् ॥ ३९ ॥

सख्यग्रे पादपतितं तिरस्कृत्य रुषा प्रियम् ।
पश्चात्तापं तु या कुर्यात् कलहान्तरिता हि[3] सा ॥ ४० ॥

संतापो हृदये मोहो निःश्वासश्च तथा ज्वरः ।
प्रलापः सुतरामस्याश्चेष्टाश्चैता भवन्ति हि ॥ ४१ ॥

कन्दर्पाकुलचेतस्का संकेतस्थलसंस्थितम् ।
स्वयं याऽभिसरेत्कान्तं भवेत् सा त्वभिसारिका ॥ ४२ ॥

---

१. (ख) विलम्बे सति कान्तस्यागमनं प्रति योत्सुका ।
·····नेकसंकल्पा विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ३५ ॥
२. (ख) परागेहे । ३. (ख) तु ।

शुक्लाकृष्णादिभेदेनानेकधास्त्यभिसारिका ।
चिन्तासंतापशङ्काद्याश्चेष्टाश्चास्याः समीरिताः ॥ ४३ ॥

स्वाधीनो दयितो यस्याः सदा तिष्ठति सन्निधौ ।
हृष्टपुष्टमनाः स्वस्था[१] सोक्ता[२] स्वाधीनभर्तृका ॥ ४४ ॥

आकल्पकल्पनं[३] पानक्रिया क्रीडा जलादिषु ।
कामपूजोत्सवाद्याश्चाप्यस्याश्चेष्टाः प्रकीर्तिताः ॥ ४५ ॥

वासकः कथ्यते स्त्रीणां यस्तु सम्भोगवासरः ।
तत्र कान्तं समेष्यन्तं निश्चित्यात्मगृहं प्रति ॥ ४६ ॥

सज्जीकरोति याऽत्मानं मुहुर्भूषादिसाधनैः ।
केल्यालयं स्रगाद्यैः[४] सा ज्ञेया वासकसज्जिका ॥ ४७ ॥

सखीविनोदश्चौत्सुक्यं प्रियमार्गेक्षणं मुहुः ।
अस्याश्चेष्टास्तथा भोगसंपत्संभालनं[५] मुहुः ॥ ४८ ॥

॥ इति नायिकानिरूपणम् ॥

ईदृग्विधा नायिका नायकविषयिकशृङ्गारस्यालम्बनविभावो

यथा–

पद्मे बिम्बफलं सुधारसमयं स्वर्णस्य वल्ल्यां तथा
भृङ्गस्तोकनिषेविताग्रविलसत्सद्बीजपूरद्वयम् ।
गम्भीराद्ध्रदतश्च धूमविततिर्दृष्टा बहिर्निर्गता
धातुः सृष्टिरपूर्वरूपरचना केयं समुज्जृम्भते[६] ॥ ४९ ॥

---

१. (ख) स्वच्छा । २—(ख) सोत्का । ३. आभूषणम् (ख)
४. (ख) स्रग्गन्धाद्यैः ज्ञेया वासकसज्जका । ५. (ख) सलाभनं ।
६. प्रकटीभवति (ख)

इयमम्बुजपत्रपेशला[1]ऽखिलसौन्दर्यपयोधिरेव सा ।
मम विष्टमिहान्यथा कथं विनिमग्नं नितरां मनो भवेत् ॥ ५० ॥

अथ नायिकाविषयिकश्रृङ्गारस्यालम्बनविभावो नायकः,

स च–

नायकस्तु महाभाग्यस्थैर्यादिगुणवान् मतः ।
धीरोदात्तादिभिर्भेदैः सोयं बहुविधः स्मृतः ॥ ५१ ॥

साधारणास्ते सर्वेऽत्र शृङ्गारे तु त्रिधा हि सः ।
पतिश्चोपपतिश्चाथ वैशिकश्चेति भेदतः ॥ ५२ ॥

तत्र पतिर्यथा–

यो हि शास्त्रोक्तविधिना परिणीतः पतिस्तु सः ।
स चतुर्धाऽनुकूलश्च शठो धृष्टोऽथ दक्षिणः ॥ ५३ ॥

तत्रानुकूलः –

स्वरमण्यां भृशं रक्तो योऽन्यदारपराङ्मुखः ।
अनुकूलः स विज्ञेयः सीतायामिव राघवः ॥ ५४ ॥

अथ शठः–

कामिनीवञ्चनोपायपण्डितो विविधैः छलैः[2] ।
यः स्वार्थसाधकः स स्याच्छठो गूढापराधकृत् ॥ ५५ ॥

अथ धृष्टः–

ज्ञातेऽपराधे यः क्रोधात्कान्तयाप्यवमानितः ।
तदग्रे निर्भयोऽलज्जस्तिष्ठेद्धृष्टस्तु सः स्मृतः ॥ ५६ ॥

---

१. कोमला (ख) २. (ख) विविधच्छलः ॥

अथ दक्षिणः–

बह्वीनां वल्लभस्तासां युगपद्रञ्जनक्षमः ।
कामकेलिकलादक्षो दक्षिणः स निगद्यते ॥ ५७ ॥

॥ इति चतुर्विधः पतिः ॥

अथोपपतिः–

यः स्त्रिया कामचारिण्या स्वीकृतः स्वेच्छया भवेत् ।
स्वपतेरितरः स स्याज्जारश्चोपपतिस्तथा ॥ ५८ ॥

अथ वैशिकः–

हावभावकलाभिज्ञः स्वरशास्त्रविशारदः ।
यो वा स्याद्व्यसनाद्वेश्यासंसक्तः स तु वैशिकः ॥ ५९ ॥

॥ इति नायकाः ॥

उत्तमो मध्यमो नीचस्त्रिधासौ नायकः स्मृतः ।
उत्तमो निपुणः स्निग्धो मनस्वी मृदुलः शुचिः ॥ ६० ॥

न हृष्टो नापि क्रुद्धः स्यान्मध्यमः स्वार्थसाधकः ।
रतमात्ररतो मूढो नीचो नीचगुणः स्मृतः ॥ ६१ ॥

विरक्तायां सरोगायामन्यासक्तावपि स्त्रियाम् ।
निर्लज्जः कामतो यायान्नीचो वा क्रोधनो हठी ॥ ६२ ॥

॥ इति नायकनिरूपणम् ॥

अथ नायकसहायाः–

पीठमर्दो विटश्चेटो विदूषक इति त्विमे ।
सहाया नर्मसचिवा[1] नायकस्य प्रकीर्तिताः ॥ ६३ ॥

---

१. (ख) प्रधानाः ।

तत्र पीठमर्दः –

नायकस्य गुणैरीषन्न्यूनो भक्तोऽस्य चानुगः ।
सद्यः प्रसा[द]कृत् क्रुद्धस्त्रियोऽसौ पीठमर्दकः ॥ ६४ ॥

नायकेङ्गितवित् कामप्रपञ्चचतुरो विटः ।
चेटस्स्त्रीपुंसयोर्दक्षः संधाने रतिकेलिषु ॥ ६५ ॥

भावैर्विदूषकोऽनेकैर्विकृतैर्यो विहासकः ।
एतेषां च गुणादेशाद्युचिताभाषणादयः ॥ ६६ ॥

यथोक्ता रसप्रकाशे–

"देशकालकला भाषा माधुर्यं च विदग्धता ।
प्रोत्साहने कुशलता यथोक्तकथनं तथा ॥ १ ॥
निगूढमन्त्रतेत्याद्याः सहायानां गुणा मताः ।" इति ।

नायका अपि संक्षेपादित्थमत्र निरूपिताः ।
रसप्रकाशे चैतेषामतिविस्तरवर्णनम् ॥ ६७ ॥

॥ इति नायकसहायनिरूपणम् ॥

एवंविधो नायको नायिकाविषयिकशृङ्गारस्यालम्बनविभावो[१]

यथा–

सुभगः सखि नन्दनन्दनो मम दृष्टो हृतवान् मनः किल ।
कथमस्य विलोकनादथ कृतिमूढैव[२] भवेयमन्यथा ॥ ६८ ॥

शृङ्गारस्य उद्दीपनविभावा ऋतुमाल्यादयो यथा—

विधाय श्रीपुष्पैः परित इव वर्द्धापनविधिं
प्रदोषे सम्पाद्याऽमृतकर[३]मयारात्रिकमथो ।
गृहीत्वा श्रीखण्डं व्यजनमिव मन्देन मरुता
वसन्तः कन्दर्पं परिचरति सः स्वेष्टमधुना ॥ ६९ ॥

---

१. कारणम् (ख) । २. कार्यमूढा (ख) । ३. चन्द्रः (ख) ।

अथानुभावाः –

अनुभावयन्ति[१] ये भावा रसं निष्पन्नमिङ्गितैः ।
अनुभावाः कटाक्षाद्याः शृङ्गारस्य स्मृता बुधैः ॥ ७० ॥

ते च–

चक्षुरास्यप्रसादेन स्मितमिष्टविभाषणैः ।
धृतिप्रमोद[२]वाक्यान्त[३]र्भुजक्षेपादिभिस्तथा ॥ ७१ ॥

अन्यैश्च विविधैरङ्गविकारैरनुभावकैः ।
इत्येतैरभिनेतव्यः शृङ्गारो रसवेदिभिः ॥ ७२ ॥

यथा–

प्रेमस्फुरन्नयनसस्मितवल्गुजल्पै-
विंश्वास्य बाहुपरिचालनचेष्टया च ।
अन्तः प्रमोदभरभंगुरहृन्मृगाक्षी
दृक्कोणवीक्षणशरेण जघान कान्तम् ॥ ७३ ॥

सात्त्विकभावा यथा–

अङ्गं जलेन परिषिच्य गतिं निरुद्ध्य
हत्वेषिकाभि[४]रनुबध्य च वाक्प्रचारम् ।
तेजोपहृत्य परिकम्प्य च रोदयित्वा
कामेन कामिमिथुनं व्यथितं रहस्ये ॥ ७४ ॥

अथ शृङ्गारे व्यभिचारिभावा निर्वेदादयो यथा–

निर्विद्य[५] तेऽस्त्यनुनयेन चिरं प्रखिन्नो
यातः सकम्प इव किं स्मयसे स चण्डि !
तन्द्रां विमुच्य[६] कृपणं परिचिन्तयस्व
मुग्धे स्मरिष्यसि वचो मम चेन्न पश्चात् ॥ ७५ ॥

इत्यादि द्रष्टव्यम् ॥

---

१. ज्ञापयन्ति (क,ख) । २. हर्षः (ख) ३. (ख) दृक्पात ।
४. शलाकाभिः । 'ईषिकात्वक्षिकूटक' मित्यमरः (सं) ५. वैराग्यं प्राप्य (ख)
६. (ख) विमुञ्च ।

अथ हावाः–

स्त्रीणां श्रृङ्गारजाश्चेष्टा हावा लीलादयः स्मृताः ।

ते च–

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥ ७६ ॥

विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषितः ।
चतुष्कमाद्यमेतेषां शारीरं ललितं तथा ॥ ७७ ॥

मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको विहृतं पुनः ।
आन्तराण्युभयस्थं च विज्ञेयं किलकिञ्चितम् ॥ ७८ ॥

तत्र लीला नाम

सखीषु कौतुकावेशात् प्रियस्य परिहासतः ।
प्रियोक्तिभूषणादीनां लीलेत्यनुकृतिं विदुः ॥ ७९ ॥

यथा–

पिच्छगुच्छमुपधाय कौतुकाद्राधयालिषु च रास आहतः ।
कोयमित्युपगतो वने च तां संवृतां हरिरवेक्ष्य सिस्मिये ॥८०॥

अथ विलासः–

प्रियस्य दर्शनाद्यैर्यो विशेषो गमनादिषु ।
कश्चिदुत्पद्यते हृद्यो विलासः स निगद्यते ॥ ८१ ॥

यथा—

रणद्धंसकोद्दामचञ्चत्पदाब्ज-
द्युतिभ्राजमानस्थलं संचरन्ती ।
कटाक्षैर्लसद्विभ्रती वक्त्रमञ्चद्-
भ्रुवैर्वीक्षिता सुन्दरी ते कृतार्था ॥ ८२ ॥

अथ विच्छित्तिः –

सौन्दर्यादिस्मयेनाथ मन्युना मानजेन[1] यः ।
अल्पभूषणविन्यासो विच्छित्तिः सेति कथ्यते ॥ ८३ ॥

यथा–

हारो न चारोपित आत्मकण्ठे
धृतानि नान्याभरणानि चाङ्गे ।
एकं पुनः कज्जलमेव तन्व्या
तेने दृशोर्विश्वविमोहनाय ॥ ८४ ॥

अथ विभ्रमः –

प्रियस्यांशुकभूषाणां विपर्यासोऽथ कौतुकात् ।
मदप्रेमोत्कटत्वाद्यैः क्रियते स हि विभ्रमः ॥ ८५ ॥

यथा–

निधाय हारं दयितस्य निर्गता
स्ववक्षसि स्वीयधिया निशात्यये ।
निगृह्य तेनाऽऽकुलमेष मे न ते
मुञ्चेत्यनूचे हसता नितम्बिनी ॥ ८६ ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

श्रमहर्षाभिलाषाणां स्मितगर्वभयक्रुधाम् ।
संकरो[2] यौवनोद्भेदचाञ्चल्यात् किलकिञ्चितम् ॥ ८७ ॥

यथा–

द्रवत्स्मितसुधारसं भ्रुकुटिवल्गु[3]बन्धोद्धुरं
त्रपा[4]नमितपक्ष्मकं विकसितोरुगल्लस्थलम् ।
मनोभवभरालसं चकितचञ्चलप्रेक्षणं
वरं वरतनोर्मुखं जयति यौवनस्योद्गमे ॥ ८८ ॥

---

१. गर्वेण (ख) । २. मिश्रीभावः (ख) । ३. सुन्दरं (ख) । ४. लज्जा (ख) ।

अथ मोट्टायितम्–

सपत्न्यादिभयेनाथ लज्जया वा प्रियस्य या ।
निभृतं दर्शने भूयः स्पृहा मोट्टायितं तु तत् ॥ ८९ ॥

यथा–

पादाङ्गुलीयकमितः पतितं ममेत्थं
सव्याजमाप्रतिनिवृत्य चतुष्पथेषु ।
स्वैरं निजप्रियतमान्तिकमेत्य मन्दं
बभ्राम वामनयना जनताकुलेषु ॥ ९० ॥

अथ कुट्टमितम्–

नखक्षतादिभिर्या स्यात्सीत्कारादिर्मुधा[१] रते ।
सुखेषु दुःखजा चेष्टा तद्धि कुट्टमितं विदुः ॥ ९१ ॥

यथा–

कान्ते कुचौ स्पृशति सीत्कुरुते मुधैव
नीवीगतं करमिवेच्छति रोद्धुमस्य ।
आनन्दसम्प्लुतमनाः सुरतेऽपि तन्वी
मा माऽलमस्मि न सहेति मुधा ब्रवीति ॥ ९२ ॥

अथ विव्वोकः–

मदगर्वाभिमानोत्थो विकारोऽनादरात्मकः ।
विव्वोकः स हि विज्ञेयः प्रियाऽगः[२]सम्भवस्तथा ॥ ९३ ॥

यथा–

दासोऽस्मि ते प्रियतमे ननु देहि वाच-
मित्थं प्रियो[३]ऽकुरुत[४] चाटुशतं पुरस्तात् ।
वक्त्रेन्दुमिन्दुवदना तु विधाय तिर्यक्
तूष्णीं ततान तिलकं स्वसखीकपोले ॥ ९४ ॥

---

१. मिथ्या (ख) । २. अपराधः (ख) । ३. प्रियः (ख) । ४. आत्मनेपदप्रयोगः (सं) ।

अथ ललितम्–

प्रेष्ठस्यात्यनुरागायातिसौन्दर्याय चात्मनः ।
समग्राङ्गसमीचीनविन्यासो ललितं विदुः ॥ ६५ ॥

यथा–

मञ्जीरे पदयोर्निधाय करयो रत्नोज्ज्वले कङ्कणे
हारं वक्षसि कुण्डले श्रवणयोर्नेत्राब्जयोरञ्जनम् ।
वीटीं वक्त्रपुटे कपोलफलके काश्मीरपत्राङ्कुरं
वासो वासकसज्जया स्ववपुषि प्रेये[1] प्रियस्यान्तिके ॥ ६६ ॥

अथ विहृतम्–

स्वाभिलाषस्य सम्पूर्तौ व्याजलज्जाकृतं भवेत् ।
अन्यथा चेष्टिताद्यं यद्विहृतं तदिहोच्यते ॥ ६७ ॥

व्याजकृतं यथा–

नीवीं प्रिये परिविमोक्तुमभिप्रवृत्ते
सेर्ष्यं किलान्तरुदयत्प्रमुदायताक्षी ।
ताम्बूलयाचनमिषेण चकार तस्मि-
न्नाकारणं परिजनस्य विधा [य] विघ्नम् ॥ ६८ ॥

लज्जाकृतं यथा–

वक्षोजयोर्मृगमदेन विधाय चित्रं
गच्छामुनाथ[2] सपदीत्थमुरः प्रियस्य ।
आलिङ्ग्य चित्रय किलेत्युदिते स्वसख्या
स्नेहान्मृगीदृगनुदत्करपल्लवैस्ताम् ॥ ६६ ॥

॥ इति हावाः सम्भोगशृङ्गारश्च ॥

---

१. प्राप्तं (ख) । २. (ख) गच्छामुनाद्य ।

अथ विप्रलम्भश्रृङ्गारः –

यो भवेत् स्निग्धयोर्यूनोरनवाप्तौ परस्परम् ।
अन्तर्दुःखात्मको भावो विप्रलम्भः स कथ्यते ॥ १०० ॥

प्रवासोऽथ च मानात्मा तथा च करुणात्मकः ।
पूर्वानुरागकश्चेति विप्रलम्भश्चतुर्विधः ॥ १०१ ॥

तत्र प्रवासः –

देशान्तरस्य गमने परितापो वियुक्तयोः ।
हृदये जायते यूनोः स प्रवासाभिधः स्मृतः ॥ १०२ ॥

यथा–

ग्रहविद[1]मनुकूलं पृच्छति प्राणनाथे
गमनदिनमदूरेऽवस्थितायाः प्रियायाः ।
तनुरतितनुरासीत् तत्क्षणार्द्धे कपोलो
मृदितमृदुविशुष्यत्केतकीपत्रपिङ्गः ॥ १०३ ॥

अथ मानः-

अपराधे परिज्ञाते या स्याद्रुष्टतया[2] स्थितिः ।
नायिकाया विशेषेण स मानः परिकीर्तितः ॥ १०४ ॥

यथा–

कान्ताः सुकान्ताः किल कोटिशस्ते
प्रयोजनं पामरया मया किम् ?
प्रियं प्रियाख्याग्रहणे स्खलन्त-
मुक्त्वेति मुक्त्वा शयनं जगाम ॥ १०५ ॥

---

१. ज्योतिर्विदम् । २. दुष्टतया ।

अथ करुणाख्यो विप्रलम्भः–

यूनोरदर्शनेऽकस्मादेकस्याज्ञातहेतुके ।
प्रलापो यो भवेद्दुःखात् स प्रोक्तः करुणात्मकः ॥ १०६ ॥

अथवा

अच्छेदे जीविताशाया यूनोरन्यतमस्य यः ।
प्रलापः करुणात्मासौ छेदे तु करुणो रसः ॥ १०७ ॥

करुणात्मा तु रामस्य सीताया हरणेऽभवत् ।
रासेऽन्तर्द्धौ मुकुन्दस्य व्रजवामदृशां तथा ॥ १०८ ॥

यथा–

क्वेदृशं[1] जनकनन्दिनि दुःखे मां निधाय गतवत्यसि कान्ते !
त्वं पिधाय तनुषे[2] तनुमारात्त्वेलिकां चयति मे तनुरेषा ॥ १०९ ॥

अथ पूर्वानुरागः –

पाणिग्रहणतः पूर्वं श्रवणाद्दर्शनाद्भवेत् ।
पूर्वानुरागो योऽन्योन्यं गाढासक्तेः समुद्भवः ॥ ११० ॥

नलस्य दमयन्त्याश्च मालत्या माधवस्य च[3] ।
पूर्वानुरागः प्रागासीत् पाणिग्रहणतो मिथः ॥ १११ ॥

माधवस्य यथा–

सम्भूयेव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते
यत्रालोकपथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः ।
यद्बालेन्दुकलोच्चयादवचितैः सारैरिवोत्पादितं
तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ॥ ११२ ॥

---

१. (ख) क्वेदृशे । २. करोषि (ख) ३. मालतीमाधवनाटके ।

विप्रलम्भे हि सर्वे ते भवन्ति व्यभिचारिणः ।
इमाः पूर्वानुरागे[1] तु द[द]शावस्था विशेषतः ॥ ११३ ॥

ता द[द]शाऽवस्था यथा–

अभिलाषोऽथ चिन्ता च स्मृतिश्च गुणकीर्तनम् ।
उद्वेगोऽथ प्रलापः स्यादुन्मादो व्याधिरेव च ।
जडता मरणञ्चैव दशावस्था इमाः स्मृताः ॥ ११४ ॥

तत्र–

अभिलापो निजेष्टाप्तौ संकल्पो[2] यस्तु सोद्यमः ।
चिन्ता तत्संगमोपायचिन्तनं विविधं तु यत् ॥ ११५ ॥

स्मृतिस्तदेकलग्नत्वं मनसोऽनन्यभावतः ।
तद्रूपादिगुणश्लाघा त्वत्रोक्तं गुणकीर्तनम् ॥ ११६ ॥

उद्वेगो मनसः कम्पः प्रलापस्तच्छ्रिता गिरः ।
उन्मादस्तन्मयत्वेन वीक्षणं जगतस्तु यत्[3] ॥ ११७ ॥

व्याधिस्तत्संगमाभावात्संतापो यो भवेद्भृशम् ।
यत्तु तद्ध्यानयोगेन नैश्चल्यं जडताऽत्र सा ॥ ११८ ॥

तैस्तैरुपायैर्न स्याच्चेत्सर्वथा तत्समागमः ।
तदाऽसह्यस्मरावेगैः कृतः स्यान्मरणोद्यमः ॥ ११९ ॥

नात्रोदाहरणाद्युक्तिर्विस्तरत्रासतः कृता ।
अतो ग्रन्थान्तराज्ज्ञेयो विस्तारो यो ह्यपेक्षितः ॥ १२० ॥

इति रसदीर्घिकायां श्रृङ्गारनिरूपणं नाम द्वितीयं सोपानम्–



---

१. विप्रलम्भश्रृङ्गारे (ख) । २. मनोरथः ।३. क० प्रतौ ११७ तमश्लोकस्य नोपलब्धिः ।

[तृतीयं सोपानम्]

अथ हास्यरसः ।। हास्यरसस्य स्थायिभावो हासः

स च–

विकारैर्या वचोवेशचेष्टादीनां कुतूहलात् ।
मनसो विकृतिर्हासः पूर्णो हास्यरसश्च सः ।। १ ।।

श्वेतो हास्यस्य वर्णोऽस्ति दैवतं प्रमथास्तथा ।
विभावो विकृतार्थाख्या वाग्वेशाचारभूषणम् ।। २ ।।

विकाशोऽक्ष्णोश्च नासायाः स्पन्दनं च तथोष्ठयोः[1] ।
गल्लोल्लासोऽनुभावोऽस्य दशनानां च दर्शनम् ।। ३ ।।

स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च हास्यस्तु द्विविधोऽपि तौ ।
प्रत्येकं च त्रिधा भेदै[2]रुत्तमाधममध्यमैः ।। ४ ।।

स्वनिष्ठश्चेत् स्वसम्भूतैर्विकारैर्हसति स्वयम् ।
परनिष्ठः परोद्भूतैर्हसत्येतैश्च चेत् परम् ।। ५ ।।

स्वनिष्ठः षड्विधोप्येवं परनिष्ठोऽपि षड्विधः ।
इति द्वादश विज्ञेया भेदा हास्यस्य सूरिभिः ।। ६ ।।

तथा हि–

स्मितं च हसितं तत्र चोत्तमानां प्रकीर्तितम् ।
मध्यमानां विहसितं तथोपहसितं मतम् ।। ७ ।।

नीचानां चापहसितं तथाऽतिहसितं स्मृतम् ।
स्वनिष्ठं परनिष्ठञ्च ज्ञेयं सर्वं यथातथम् ।। ८ ।।

---

१. (ख) वदनौष्ठयोः ।   २. (ख) त्रिभिर्भेदैः ।

अथ स्मितादीनां लक्षणानि—

गल्लस्येषद्विकाशेन चाव्यक्त्या दशनावलेः ।
उत्तमानां स्मितं ज्ञेयं स्वनिष्ठं च परस्थितम् ।। ९ ।।

ईषत्संलक्षितैर्दन्तैरुत्फुल्लास्यं विकाशितैः ।
कपोलैर्लक्षितं चैतद्धसितं कवयो विदुः ।। १० ।।

कालोचितमुरःकम्पमाकुञ्चितमुखं तथा ।
जातास्यरागं मध्यानां ज्ञेयं विहसितं बुधैः ।। ११ ।।

उद्यदश्रूद्धतं मौलेः कम्पभूयिष्ठमुत्स्वनम् ।
अदोपहसितं ज्ञेयमधमानां विचक्षणैः ।। १२ ।।[1]

उत्फुल्लनासिकं वक्रदृष्टिकुञ्चिशिरोधरम् ।
सस्वनं चोपहसितं मध्यमानां विचक्षणैः[2] ।। १३ ।।

बहलाश्रूत्स्फुटारावं श्लिष्टपार्श्वजनं तथा ।
सहस्ततालमत्युच्चैः सन्तोऽतिहसितं विदुः ।। १४ ।।

स्वनिष्ठोत्तमैहासो यथा—

वासः कृत्तिरहिर्विभूषणमथ स्रग्मुण्डमालोज्ज्वला
भूतिश्चाङ्गविलेपनं च वृषभो वृद्धस्तथा वाहनम् ।
अन्नं धूत्त फलं[3] गृहं पितृवनं पात्रं करोटि[4]स्त्विदं
स्वंगार्हस्थ्यमवेक्ष्य शम्भुरहसद् गौरीप्रियं[5] भावुकम् ।। १५ ।।

---

१. १२ श्लोकः (क) प्रतौ नोपलभ्यते ।
२. (ख) प्रकीर्तितम् ।
३. 'उन्मत्तः कितवो धूर्तो धत्तूरः कनकाह्वय' इत्यमरः । (सं)
४. शिरोस्थनि करोटिः स्त्री' त्यमरः । (सं) ५. प्रीतिकरं ।

परनिष्ठो यथा–

स्कन्दे कर्षति कण्ठलीनमुरगं पर्याणबध्नीकृते
स्वाखोः कारयितुं च बन्धनकृते कीलं तथा शृङ्खलाम् ।
खट्वाङ्गं हरति त्रिशूलकमथो नाथे गणानां शिशो
संस्पन्दन्मृदुगल्लकोष्ठपुटकः स्मेरो हरः पातु नः ॥ १६ ॥

मध्यमानां उभयविधो यथा–

भुक्त्वाऽन्यस्य गृहे द्विजो निजगृहान् गच्छन्ननल्पाशना-
न्नष्टज्ञानतया तनूजमतनुं स्कन्धस्थितं विस्मृतः ।
अन्विष्यन्प्रतिसद्मसद्मनि विशन् स्मृत्वा शिशोः क्रन्दनान्
मूर्द्धाघात[1]जुषो जहास जनताप्युच्चैस्तदालोकनात् ॥ १७ ॥

उभयनिष्ठः पृथक् यथा वा–

मुखं क्व चास्योभयतोऽस्ति पुच्छं बृहद्वपुर्लम्बविलोललिङ्गः ।
धुरो न वोढा विफलोऽयमित्थं कृषीवला व्युज्जहसुर्गजेन्द्रम् ॥ १८ ॥

स्वनिष्ठो यथा–

मुधा[2] विधात्रा वृषणौ कृतौ चेत्
ताभ्यां कृता किं नु न शिश्नवृद्धिः ।
इत्याकलय्य[3] स्वयमुत्थनादं
जहास जाल्मः सुरते कृशाङ्गः ॥ १९ ॥

अथाऽधमानां यथा–

वेश्यावेश्म[4] त्रिवाडवालयधियाऽविश्याध्वगैर्वैदिकैः
सिद्धान्ने ऽभ्युपयाचिते भगमिति प्रत्युत्तरं प्राप्य च ।
तैलेनोत घृतेन पक्वमिति ताः पृष्टे पुनः प्रस्खलद्-
वेणीमाल्यमुदस्तमुद्धतरवं हास्यं सतालं व्यधुः ॥ २० ॥

---

१. (ख) मूर्ध्न्याघात । २. मिथ्या (ख) । ३. विचार्य (ख) ।
४. (ख) वेश्यावेश्मनि बाडवालयधिया ।

इत्यादि ज्ञेयम्–

हास्ये ग्लानिविबोधाश्रुस्वरभङ्गविवर्णता ।
श्रमस्वेदादयो भावा ज्ञेयाः सञ्चारिणोऽपि ते ॥ २१ ॥

इति हास्यरसः ॥

अथ करुणः ॥ करुणरसस्य स्थायिभावः शोकः । स यथा–

इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिङ्गितो मितः ।
विकारश्चेतसः शोकः स पूर्णः करुणो रसः ॥ २२ ॥

आशाविनाशे सर्वेषामिन्द्रियाणां क्लमोऽथवा ।
दुःखस्यानुभवोऽत्यन्तं करुणः स निगद्यते ॥ २३ ॥

कपोतचित्रितो वर्णो वरुणश्चास्य दैवतम् ।
स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च द्विविधोऽसावपि स्मृतः ॥ २४ ॥

स्वनिष्ठः स्वोद्भवैर्दुःखैः परदुःखेक्षणात् परः ।
विभावोऽस्येष्टनाशश्च व्यसनं[१] क्लेशबन्धनम् ॥ २५ ॥

निःश्वासो रोदनं मोहः प्रलापः परिदेवनम्[२] ।
अनुभावो वपुर्घातः करुणस्याऽऽस्यशोषणम् ॥ २६ ॥

सर्वे च सात्विका भावाः स्वेदसंस्तम्भनादयः ।
स्वल्पं वाप्यथ भूयिष्ठं भवन्ति करुणे रसे ॥ २७ ॥

ग्लानिनिर्वेदजाड्यानि दीनताऽऽलस्यविस्मृती ।
मोहव्याध्यादयोऽप्यत्र करुणे व्यभिचारिणः ॥ २८ ॥

---

१. दुःखम् (ख) । २. विलापः (ख)

स्वनिष्ठः करुणो यथा–

अयि नाथ विमुच्य मामनाथां क्मिगम्याध्वनि हैकलः[1] प्रयातः ।
इति कामवधूर्विलप्य गाढं हृदयं ताडयति स्म सा कराभ्याम् ॥२९॥

परनिष्ठो यथा–

हा सीते जनकात्मजे क्व नु गतेत्येवं लपन्तं मुहु–
मुर्ह्यन्तं च मुहुः स्खलन्तमभितो रोरूयमाणं[2] वने ।
दृष्ट्वेत्थं रघुनन्दनं जनकजाविश्लेष[3]दुःखाकुलं
विश्वं स्थावरजङ्गमं व्युदसृजद्बाष्पौघमुच्चैस्तराम् ॥ ३० ॥

अथ रौद्ररसः। रौद्रस्य स्थायिभावः क्रोधः, स यथा–

अवज्ञादिकृतो मोदप्रतिकूलो मितस्तु यः।
मनोविकारः सक्रोधः सम्पूर्णो रौद्रसंज्ञकः ॥ ३१ ॥

अथवा–

शस्त्राघातादिभिश्चित्ते ज्वलितेऽसहनोद्भवम् ।
सर्वेन्द्रियाणां वौद्धत्यं रौद्रो रस इतीर्यते ॥ ३२ ॥

वर्णो रौद्रस्य रक्तोऽस्ति दैवतं विनतासुतः[4] ।
स्थायिभावस्तथा क्रोधो निश्चयो विदुषामयम् ॥ ३३ ॥

खड्गाद्यभिभवः शत्रोर्दर्शनोद्भर्त्सनादिकम् ।
रौद्रस्यायं विभावोऽस्ति तथाऽत्यन्तमसत्क्रिया ॥ ३४ ॥

दन्तसङ्घट्टनं चौष्ठदशनं भुग्नता भ्रुवोः ।
प्रकोष्ठोन्मर्दनं गात्रप्रकम्पः शस्त्रधारणम् ॥ ३५ ॥

हतोऽसीत्यादिवचनाऽऽडम्बरश्च सहुङ्कृतिः ।
अनुभावोऽस्य विज्ञेयो रौद्रस्येत्यादिविक्रिया ॥ ३६ ॥

---

१. हा एकलः (सं) । २. रु शब्दे । अतिशयेन शब्दं कुर्वन्तं (सं)
३. वियोगः (ख) । ४. गरुडः (ख) ।

गर्वावेगौ तथाऽमर्षमोहासूया[1] मदादयः।
स्वेदकम्पाक्षिरागाद्या रौद्रे सञ्चारिणो मताः ॥ ३७ ॥

यथा—

भो भो शृण्वन्तु सर्वे भवतु सुरसभा किं न सर्वा सहाग्रा
शस्त्रास्त्रौघैः स्वयं वाऽभिभवतु सकलः किं न संभूय किन्तु।
उद्वृत्तं क्षत्रमेतत्प्रमभपितृवधध्याकुलो भार्गवोऽहं
सद्योऽद्यैवाङ्घ्रिघातोद्दलितवसुमतीमूल आवेशयामि ॥३८॥

यथा वा—

दन्तप्रोद्दष्टदन्तच्छदमतिकुटिलभ्रूस्फुरन्नेत्ररागं
प्रोन्मुक्तोन्मत्तरावं द्रुतगतिपवनोद्धूतमत्तेभजालम्।
दोर्दण्डोद्दण्डघातैः समिति[2] च दशनोद्घट्टनं निघ्नतोऽरीन्
भीमस्याङ्घ्रिप्रहारैस्त्रिपुरविजयिनोऽस्येव कोप्येष कोपः ॥३९॥

अथ वीररसः। वीररसस्य स्थायिभाव उत्साहः। स च

शौर्यदानदयामध्ये निर्मितोऽन्यतरेण यः।
मितो विकारो मनसो [सः] स उत्साह इति स्मृतः ॥ ४० ॥

शक्त्यौदार्याद्रितार्थाद्यैः सुप्रशस्तेषु कर्मसु।
मानसी सत्वरा वृत्तिरुत्साहः परिकीर्तितः ॥ ४१ ॥

उत्साहः परिपूर्णश्च वीरो रस इति स्मृतः।
सर्वेषामिन्द्रियाणां वा प्रहर्षो वीर उच्यते ॥ ४२ ॥

युद्धदानदयाभेदैर्वीरस्तु त्रिविधो मतः।
गौरो वीरस्य वर्णोऽस्ति दैवतं त्रिदशाधिपः ॥ ४३ ॥

---

१. ईर्ष्या (ख)। २. अभायां।

उत्साहो युद्धवीरे तु प्रतापान्तर्बलादिजः ।
दानवीरे पुनर्दानसामर्थ्यादिसमुद्भवः ।
आर्द्रभावादिसम्भूतो दयावीरेत्विति स्थितिः ॥ ४४ ॥

उत्साहोऽध्यवसायश्चाऽविषादोऽविस्मयो बलम् ।
विविधार्थविशेषोऽस्य विभावो विनयोऽथ मुट्[1] ॥ ४५ ॥

शौर्यं वीर्यं च धैर्यं च प्रभावोल्लासविक्रमाः ।
वाक्यान्याक्षेपयुक्तानि विनयो दानसूनृतम् ॥ ४६ ॥

हृदः प्रवणता[2]ऽऽश्वासवचनानि विशेषतः ।
अनुभावोऽस्य विज्ञेयो वीराख्यस्य रसस्य हि ॥ ४७ ॥

इति त्रिविधवीरसामान्यलक्षणम् ॥ विशेषस्तु—

हर्षो गर्वस्तथाऽमर्षः स्थैर्याद्या व्यभिचारिणः ।
युद्धवीरे भवन्त्यन्ये भीताश्वासादयोऽपि च ॥ ४८ ॥

प्रहर्षधृतिमत्याद्या दानवीरेऽभिचारिणः ।
प्रसन्नवीक्षणं भाषा स्मितपूर्वाऽतिदातृता ॥ ४९ ॥

दत्त्वा चाननुशोचो न गुणागुणविचारणा ।
इत्याद्या दानवीरेऽन्याश्चेष्टा अप्युद्भवन्ति हि ॥ ५० ॥

धृतिमत्यादयो भावा दयावीरेऽभिचारिणः ।
अपि सर्वव्ययेनापि प्रयत्नैः सकलैस्तथा ॥ ५१ ॥

विपन्नादिसमस्तस्य परित्राणस्वभावता ।
स्थैर्यमाश्वासनोक्त्यादिर्दयावीरे भवन्त्युत ॥ ५२ ॥

---

(१) 'मुत्' इति साधुपाठः । "मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदा' इत्यमरः । (सं)
(२) कोमलता (ख)

त्रयाणामपि क्रमेणोदाहरणानि ॥ युद्धवीरो यथा–

शस्त्रास्त्रेषु पतत्सु विष्वगरिषु प्रत्यन्नु भञ्जत्सु च
स्वीयेषु प्रथमानधैर्यविभवः प्रत्यङ् प्रयुद्ध्यन्नथ ।
स्फूर्जत्क्रूरकृपाणिकाभिरभितः प्रत्यर्थिनः पातयन्
धीरः कोपि रणाङ्गणेऽञ्चतितरां[1] संवर्द्धमानोत्सवः ॥५३॥

दानवीरो यथा–

विनयादभिगम्य सप्रणामं पुलकोद्भेदपरिप्लुताङ्गयष्टिः ।
गृहमागतमर्चति प्रकामं धनदारात्मभिरर्थिनं महात्मा ॥ ५४ ॥

दयावीरो यथा–

उपप्लुतं गोकुलमम्बुवाहैर्दृष्ट्वाऽर्द्रभावाकुलितोऽतिदीनम् ।
सप्ताहमाहारमपोह्य धीरो गिरिं दधारैककरेण कृष्णः ॥ ५५ ॥

इति वीरः ॥

अथ भयानकः । भयानकस्य स्थायिभावो भयम् । तद्यथा–

विकृतारावविकृतसत्वादिभ्योऽपराधतः ।
या भिता चित्तविकृतिस्तद्भयं परिकीर्तितम् ॥
घोरालोकादिजनिताऽनिष्टशङ्काथवा भयम् ॥ ५६ ॥

भयस्य परिपोषस्तु[2] भयानक इति स्मृतः ।
सर्वेन्द्रियाणां विक्षोभो भयानकरसोऽथवा ॥ ५७ ॥

श्यामो भयानकस्यास्ति वर्णो वै दैवतं यमः ।
स्थायिभावो भयं चासौ स्वनिष्ठश्च परस्थितः ॥
स्वापराधात्स्वनिष्ठस्तु घोराऽलोकादिजोऽपरः ॥ ५८ ।

१–गच्छति (ख) । २–(ख) परितोषस्तु ।

घोरसत्त्वावलोकश्च विकृतारावसंश्रुतिः ।
सङ्ग्रामारण्यगमनं प्रवेशः शून्यवेश्मनि ॥ ५९ ॥

गुरुस्वेशापराधश्च बन्धुबन्धाद्यभिश्रुतिः ।
श्मशानस्पर्शनाद्यं च विभावोऽस्य प्रकीर्तितः ॥ ६० ॥

सर्वाङ्गानां प्रकम्पोऽथ शुष्कताल्वोष्ठकण्ठता ।
रोमाञ्चस्वरभेदास्यवैवर्ण्यस्तब्धतादयः ।
भयानकस्यानुभावः कविभिः परिदर्शितः[1] ॥ ६१ ॥

संत्रासमरणावेगमोहचापलदीनताः ।
अत्रापस्मारशङ्काद्या भवन्ति व्यभिचारिणः ॥ ६२ ॥

पलायनं स्वसंगोपः परावृत्यावलोकनम् ।
उत्क्रोशः शरणान्वेषाननशोषादयोऽपरे ॥ ६३ ॥

स्वापराधकृतः स्वनिष्ठो यथा—

दध्नाममत्रे[2] दृषदा विभिन्नं दृष्ट्वा निजां मातरमात्तयष्टिम् ।
म्लानाननः कम्पितगात्रयष्टिस्त्रस्यन्मुकुन्दोऽपससार गेहात् ॥६४॥

विकृतसत्त्वदर्शनात् परनिष्ठो यथा—

गच्छन्तमुच्चैस्तरमत्तनागं दासेरकः[3] सन्निहितं निरीक्ष्य ।
कृतार्त्तनादं निसृतोऽग्रजिह्वं पलायनं सोत्प्लुतमाचचार[4] ॥६५॥

---

१. (ख) परिकीर्तितः । २. "भाण्डं पात्रामत्रं च भाजन" मित्यमरः । (सं)

३. मयो महाङ्गो वासन्तो द्विककुद्दुर्गलङ्घनः
　　भूतघ्न उष्ट्रो दासेरो रवणः कण्टकाशनः ॥ १२५४ ॥
　　　　(अभिधानचिंतामणौ तिर्यक्काण्डः०)

४. (ख) सोत्प्लुतयाञ्चकार ।

विकृतनादात् परनिष्ठो यथा–

गोष्ठे निशायां निकटे निनादं श्रुत्वोत्थितं पञ्चमुखस्य[1] गावः ।
आर्त्तस्वनोर्ध्वश्रुतिकम्पमाना विभ्रमुः श्वाससमाकुलास्याः ॥६६॥

इति भयानकः ॥

अथ बीभत्सः –

बीभत्सस्य स्थायिभावो जुगुप्सा । सा च –

अहृद्यार्थोपसंस्पर्शदर्शनस्मरणोद्भवा ।
मिता विकृतिर्मनसः सा जुगुप्सा स्मृता बुधैः ॥ ६७ ॥

परिपूर्णा जुगुप्सा च बीभत्साख्यो रसो भवेत् ।
सकलेन्द्रियसंकोचो बीभत्सो वा प्रकीर्तितः ॥ ६८ ॥

नीलवर्णश्च[2] बीभत्सो महाकालोऽस्य दैवतम् ।
जुगुप्सा स्थायिभावश्च स्वनिष्ठः परनिष्ठकः ॥ ६९ ॥

स्वावद्य[3]दर्शनस्मृत्याद्युद्भवः स्वप्रतिष्ठितः ।
परावद्याद्यवेक्षाद्यैः परनिष्ठः प्रकीर्तितः ॥ ७० ॥

अमेध्यानामहृद्यानां तथानभिमतात्मनाम् ।
वस्तूनां स्मृतिसंश्रावौ गन्धस्पर्शादिदूषणम् ।
बीभत्सस्य विभावोऽन्ये तथा चोद्वेगकारिणः ॥ ७१ ॥

मुखनासापिधानं चाऽनननेत्रविघूर्णनम् ।
अव्यक्तपादपतनं गतिः शीघ्राङ्गकूणनम्[4] ।
अनुभावोऽस्य विज्ञेयः कुत्सा निष्ठीवनं तथा ॥ ७२ ॥

---

१. "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरि" रित्यमरः ॥ (सं)
२. (ख) नीलवर्णो
३. "कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समा" इत्यमरः (सं)
४. संकोचनं ।

उन्मादमोहापस्मारग्लानिचापलदीनताः ।
गर्वावेगविषादाद्या बीभत्से व्यभिचारिणः ।
नासाग्राच्छादनं स्वेदरोमाञ्चाद्याश्च विक्रियाः ॥ ७३ ॥

स्वावद्यदर्शनकृतः स्वनिष्ठो यथा–

कृत्वाघमप्यल्पतरं प्रमादादुद्विज्यमानाः सुतरां महान्तः ।
जातानुतापं हृदि धिग्धिगित्थं स्वस्य स्वयं गर्हणमाचरन्ति ॥ ७४ ॥

अहृद्यश्रवणादर्शनादिकृतः परनिष्ठो यथा–

क्रुध्यद्रक्षःसदृक्षोविकृतकिलकिलाशब्दसंत्रासितेभं
मेदोसृक्[ङ्]मांसमज्जान्त्रनिचयनिचितक्षोणिपृद्धावमानः ।
रक्तं दुःशासनस्य प्रक्षितगुरुगदाभिन्नवक्षस्थलस्य
प्रोत्क्षिप्तत्वक्शिरोभ्यो रुधिरपरिचितः प्रापिबद्भीमसेनः ॥७५॥

यथा वा–

सद्यः प्रोत्कृत्तकण्ठप्रविगलदसृगालिप्तबस्ताऽविकार्यैः
पर्यस्तैश्चास्थिकान्त्रत्वागुरुखिलचयैः सर्वतो व्याप्तरूपे ।
विक्रय्य[१]क्रव्यपुञ्जैरधिकमुपचिते कौटिका[२]वासमार्गे
नासां विप्राः पिधाय त्वरितमथ मुखं ष्ठीवमानाः प्रयान्ति॥७६॥

इति बीभत्सः–

अथाद्भुतः । अद्भुतस्य स्थायिभावो विस्मयः ॥ स च–
चमत्कृतपदार्थानां स्मृतीक्षास्पर्शसंश्रवैः[३] ।
विकारोऽपरिपूर्णो यो मनसो विस्मयस्तु सः ॥ ७७ ॥
विस्मयः परिपूर्णोऽसावद्भुताख्यो रसो भवेत् ।
वर्णाऽद्भुतस्य पीतोऽस्ति दैवतश्च पितामहः ॥ ७८ ॥

---

१. क्रये प्रसारितं क्रय्यमित्यमरः । (सं)
२. वैतंसिकः कौटिकश्च मांसिकश्च समं त्रयमित्यमरः (सं)
३. (ख) संभ्रमैः ।

स्वनिष्ठः परनिष्ठश्चाप्यद्भुतो द्विविधो मतः ।
स्वात्रदानैः स्वनिष्ठश्च परनिष्ठः परस्य तैः ॥ ७९ ॥

लोकोत्तराणि कर्माणि शिल्पं रूपं तथाविधम् ।
लोकोत्तरार्थयुक् वाक्य[1]सन्दर्भोऽथ धनागमः ।
अद्भुतस्य विभावोऽयमिन्द्रजालादिकं तथा ॥ ८० ॥

निर्निमेषेक्षणं स्पर्शग्रहणोल्लासहुङ्कृतिः ।
साधुवादश्च रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
अनुभावोऽद्भुतस्यायं गद्गदाभाषणादि च ॥ ८१ ॥

स्वेदाश्रुपुलकावेगहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।
चेष्टा च नेत्रविस्फारशिरःकम्पादिकाऽद्भुते ॥ ८२ ॥

स्वनिष्ठोऽद्भुतो यथा–

धीरः सदाचाररतः कुलीनो गुणाश्रयो भाग्यत एष लब्धः ।
इत्थं भवन्तं प्रतिपद्य कीर्तिर्हर्षात् प्रफुल्ला प्रससार लोके ॥ ८३ ॥

परनिष्ठो यथा–

स्निग्धाक्षरस्फुटविपल्लवनोज्ज्वलार्था–
ऽलङ्काररीतिरसवृत्तिविशोभमानाः ।
वाचाः (चां) सुगुम्फनकलाः किल सत्कवीनां
कुर्वन्ति कस्य न विचित्रतराः स्म चित्रम् ॥ ८४ ॥

यथा वा–

स्वच्छाः समृद्धान्तरनल्पसत्त्वा
गम्भीरतामप्यविमुञ्चमानाः ।
स्वसम्पदा जीवितजीवलोकाः
सन्तः समुद्रा इव दुर्विभाव्याः ॥ ८५ ॥

१—(ख) वाच्य ।

अत्युक्तिश्च भ्रमोक्तिश्च विरोधाभासकस्तथा ।
चित्रोक्त्याद्याश्च विज्ञेया अद्भुता एव सर्वशः ॥ ८६ ॥

इति अद्भुतरसः ।

अथ शान्तरसः ॥ शान्तरसस्य स्थायिभावो निर्वेदः । स च

आत्मज्ञानेन विषयेष्वौदासीन्यं तु यद् भवेत् ।
निर्वेदः स तु सम्पूर्णो भवेच्छान्ताभिधो रसः ॥ ८७ ॥

कामक्रोधादिदोषाणां शमः शान्तोऽथवा रमः ।
वर्णः कषायः शान्तस्य परं ब्रह्माथ दैवतम् ॥ ८८ ॥

दोषालोको विरक्तिश्च विषयोद्भवकर्मणि ।
सत्सङ्गः शास्त्रसद् (उ) ज्ञानं विभावोऽत्र निरूपितः ॥ ८९ ॥

अनुभावो गृहत्यागः पुण्यैकान्तस्थलाश्रयः ।
आत्मसञ्चिन्तनं देहाद्यनपेक्षणर्माक्रिया ॥ ९० ॥

स्वेदहर्षाश्रुपुलकस्तम्भा गद्गदवाक् तथा ।
आनन्दाविर्भवो मोह इत्याद्या व्यभिचारिणः ॥ ९१ ॥

शान्तो यथा–

संसारस्य विचिन्त्य दुःखजलधेर्निःसारतामात्मनो
देहापत्यकलत्रकोशनिचयान् ज्ञात्वैव तान् गत्वरान् ।
त्यक्त्वा गेहमपोह्य[1] सङ्गमभितो वृन्दावनेऽधस्तरोः
प्रेम्णा श्रीपुरुषोत्तमस्य चरणौ ध्यायन्ति धन्या रहः ॥ ९२ ॥

यथा वा–

स्त्रीसङ्गो निरयो विषं धनचयस्तद्गौरवं रौरवं
बन्धो बन्धुजनस्तथा च विषयाविष्टान्धवो[2]ऽन्धा गृहाः ।
इत्येवं निजमानसे कलयतः सर्वं समं पश्यतः
श्रीकृष्णं स्मरतोऽनिशं मधुवने निर्यान्तु मे वासराः ॥ ९३ ॥

इति शान्तरसः ॥

१—(ख) मोहमपोह्य ।

२ 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये ।
पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपान तु पुंसि वा ।' इत्यमरः । (सं)

यथा निवृत्तौ शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ माया रस इति प्रतिभाते तथा हि माया रसस्य स्थायिभावो मिथ्याज्ञानं । तच्च—

प्रगाढरागः संसारे मिथ्याज्ञानं प्रकीर्तितम् ।
मिथ्याज्ञानं तु सम्पूर्णं मायारस इति स्मृतः ॥ ९४ ॥

अनादिवासना माया वाऽविद्या कामकर्मजा ।
वर्णो नीलो सवर्णोऽस्य दैवतं निरृतिस्तथा[1] ॥ ९५ ॥

सांसारिकानां भोगानामुपार्जनसमुद्यमः ।
विषयाभिनिवेशश्च गृहे रागो दृढस्तथा ॥ ९६ ॥

ज्ञेयो मायारसस्यायं विभावोप्यतिमूढता[2] ।
अनुभावस्तु निर्बन्धो लौकिकेष्वेव कर्मसु ॥ ९७ ॥

लोभोऽनृतं कलिर्हिंसा द्वेषः स्तैन्यं रुषस्तथा ।
स्त्रीपुत्रद्रविणाद्येषु प्रगाढाभिनिवेशनम् ॥ ९८ ॥

हर्षः स्तम्भो मदोऽसूया मोहो ग्लानिर्भ्रमस्तथा ।
आलस्याद्या भवन्त्यत्र कतिचिद्व्यभिचारिणः ॥ ९९ ॥

मायारसो यथा—

कान्ताः कान्तादृगन्ताः शशिकरधवला रात्रयस्ताः समीराः
धीरा रम्या वलभ्यो मधु च सुमधुरं सम्मताः सम्पदोऽन्याः ।
एतत्सर्वं धरित्र्यां त्रिदशपतिपदं जीवनस्यैकलाभः
पश्चात् कैदृष्टमन्ते सुरपतिपरिषद्गौरवं रौरवं वा ॥ १०० ॥

१—(ख) नैऋर्तिस्तथा ।
२—(ख) विभावोऽथातिमृढता ।

यथा वा—

विधुमुखीमुखसम्भृतवारुणीस्वदनमुच्चतुरङ्गमवाहनम् ।
विविधभोगविधिर्विधिनिर्मितः किमपरं सुरलोकसुखं ह्यतः ॥ १०१ ॥

इति मायारसः ॥

यथा निवृत्तौ शान्तरसे सति मायारसाभावस्तथा प्रवृत्तौ मायारसे सति शान्तरसाभाव एवमन्योन्याभावेन द्वयोरन्यतर एव रसः । अतो नवरसा इत्युक्तम् ॥

आनन्दरूपा नाद्येऽमी रसाः सर्वेऽद्भुताभिधाः ।
परनिष्ठाः परं ज्ञेया इत्येवं कविनिर्णयः ॥ १०२ ॥

इति रसदीर्घिकायां नवरसनिरूपणं नाम तृतीयं सोपानम् ।



[चतुर्थं सोपानम्]

अथ भक्तिरसः—

सर्वोपासनमार्गीयसम्प्रदायानुरोधतः ।
भक्त्याह्वयो रसश्चाथ दशमः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

ननु भक्तिः शान्तरसेऽन्तर्भवति न ततो भिन्नेति चेत् सत्यम् । परन्तु निर्वेदस्थायिनि शान्तरसे सर्वतो निर्वेद एव, भक्तौ त्वैहिकामुष्मिकसुखास्वादनोत्तरायां न तथा निर्वेदोऽतो भक्तिर्भिन्नैवोच्यते । तथा हि—भक्तिरसस्य स्थायिभावो भावः, स च—

विषयाध्यासमुन्मुच्य दृढप्रेमा य ईश्वरे ।
स भाव इति विज्ञेयः पूर्णो भक्तिरसस्तु सः ॥ २ ॥

ननु रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयत इति प्राचीनलक्षणाद्विरुद्धं ईश्वरे एव दृढःप्रेमा भाव इति भावलक्षणं कथमुच्यते इति चेत् श्रूयतां–रतिर्देवादिविषया भाव इत्यत्र देवादिसाधारणपदप्रयोगात् स भावोऽपि साधारणः स भक्तेः स्थायिभावो न भवति तत्र विषयाध्यासनिवृत्तेरभावात् । अतो विषयाध्यासनिवृत्तिपूर्वकं निजेश्वरे दृढप्रेमाख्योऽसाधारणो भाव एव भक्तेः स्थायिभावो न साधारणोऽत एवमुच्यते यत्—

विषयाध्यासमुन्मुच्य दृढप्रेमा य ईश्वरे ।
स भाव इति विज्ञेयः पूर्णो भक्तिरसस्तु सः ॥ ति

तदेकतानतात्पर्थं स प्रेमा परिकीर्तितः ।
भक्तिर्वा सेन्द्रियस्यैकतानता मनसः प्रभौ ॥ ३ ॥[1]

वर्णो भक्तेर्घनश्यामो दैवतं पुरुषोत्तमः ।
भावाख्यः स्थायभावोऽस्ति दैवो जीवोऽवलम्बनम् ॥ ४ ॥

पूर्वपुण्योच्चयः साधोः सङ्गतिस्तीर्थसेवनम् ।
सच्छास्त्राभ्यसनं चास्य विभावः परिकीर्तितः ॥ ५ ॥

अनुभावस्तु विश्वासो दृढः[2] स्वोपास्यदैवते ।
तत्कर्मकरणे श्रद्धा तत्कथायां महारुचिः ॥ ६ ॥

अनन्यचित्तताभीक्ष्णं तदीक्षणनमस्क्रिया ।
प्रेम्णा संशीलनं भोगस्तन्निवेदितवस्तुनः[3] ॥ ७ ॥

प्रतिपर्वोत्सवस्तस्य क्षेत्रयात्रानुकालतः ।
तदर्थं मन्दिरारामनिपानादि[4]विनिर्मितिः ॥ ८ ॥

नर्त्तनं वादनं गानं मुक्त्वा लज्जां तदग्रतः ।
ज्ञेया भक्तिरसस्यैतेऽनुभावाः स्मरणादयः ॥ ९ ॥

---

१. (ख) प्रतौ पद्येऽस्मिन् पंक्ति विपर्ययः । २. (ख) दृष्टः । ३–(ख) निवेशितवस्तुनः ।
४. 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः । (सं)

हर्षावेगौ[1] तथा स्वेदः पुलकः प्रेमसंप्लवः ।
स्तम्भाश्रुमतिमोहाद्या भक्तौ तु व्यभिचारिणः ॥ १० ॥

सामान्यतो भक्तिरसो यथा –

हर्षोत्कर्षवशादुदश्चदलघुस्वेदप्लवार्द्रीभव–
द्रोमाञ्चोच्चयचिह्निताङ्गविषया बाष्पायमाणेक्षणाः ।
वाचा गद्गदभाषिणः कतिचन प्रोद्धूतकम्पाकुला
दृष्ट्वा श्रीगिरिराजधारिणमिति प्रेम्णा भवन्त्युत्तमाः ॥११॥

भेदा भक्तिरसस्योक्ता नवादि कविसत्तमैः ।
अलौकिकरसाभिज्ञैः श्रवणस्मरणादयः ॥ १२ ॥

तदुक्तं श्रीभागवते–

"श्रवणं कीर्तनं चैव स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" ॥ १३ ॥ इति ।

तत्र श्रवणं नाम–

'रागात् स्वेष्टगुणौघानां श्रुतिस्तु श्रवणं मतम् ।'

यथा–

श्रुत्वा मुकुन्दगुणगानमतर्कितास्म–
पीयूषपानमिव हृष्टतरा विधाय ।
सन्तो विकुञ्चितशिरोर्द्धनिमीलिताक्ष–
मुद्यद्घनाश्रुपुलकं स्तिमिता भवन्ति ॥ १४ ॥

अथ कीर्तनम्–

स्वेष्टस्यानन्यभावेन कीर्त्तनं गुणकीर्त्तनम् ॥ १५ ॥

---

१. (ख) हर्षो वेगस्तथा ।

यथा–

हस्तेक्षणावयवचेष्टितसूचितार्थं
 स्निग्धस्वराभिनवमञ्चितवर्णबन्धम् ।
आविर्भवत्प्रणयवेगविकम्पिताङ्गं
 हृष्यद्वचो हरिगुणान् कृतिनो गृणन्ति ॥ १६ ॥

अथ स्मरणम्–

तत्पादपद्मयोर्ध्यानं स्मरणं परिकीर्तितम् ।

यथा–

परिकलितदृढासना विविक्ते प्रणयपरिप्लुतमानसाः स्थिराङ्गाः ।
हृदि हरिचरणारविन्दयुग्मं सरसिरुहासनवत् स्मरन्ति धन्याः ॥१७॥

अथ पादसेवनम्—

परिचर्या समग्रा या तदुक्तं पादसेवनम् ॥ १८ ॥

यथा—

नित्यं प्रभातसमये छ [श] यनावसानं
 संत्यक्तविश्रमणमप्यधिकादरेण ।
सांद्रप्रमोदपरिविस्मृतलोकतन्त्रा
 यत्नात् परं परिचरन्ति हरिं पवित्राः ॥ १९ ॥

अथाऽर्चनम्–

अर्चनं निगमोक्तेन मार्गेणेशस्य पूजनम् ॥

यथा–

सूक्तेन तेन महता किल पौरुषेण
 षड्भिस्तथा दशयुतैरुपचारभेदैः ।
श्रद्धाभरोत्तरमुपार्जितपुण्यपुञ्जा–
 स्त्वर्चन्त्यनन्यमनसो हरिमादरेण ॥ २० ॥

अथ वन्दनम्–

अष्टभिर्दण्डवत्स्वाङ्गैः प्रणामो वन्दनं स्मृतम् ॥ २१ ॥

यथा–

पश्यन्तो हरिमीक्षणेन विधिना सम्पूज्य संस्तुत्य तं
 जल्पन्तो नम इत्यथ स्वमनसा मन्त्रं जपन्तोऽमलम् ।
पाणिभ्यां शिरसा च भूमिमुरसा पद्भ्यां स्पृशन्तस्तथा
 जानुभ्यामभिवन्दनं प्रणयतः कुर्वन्ति धन्या हरेः ॥ २२ ॥

अथ दास्यम्–

इष्टोपभुक्तवस्तूनां सर्वेषां नियमात् सदा ।
दासवच्चोपभोगो यस्तद्दास्यं परिकीर्तितम् ॥ २३ ॥

यथा–

अन्नानि वस्त्राणि च माल्यगन्ध–
 पानीयपर्णादिकमत्र यद्यत् ।
सर्वं हि दामोदर भुक्तमुक्तं
 भुञ्जन्ति भव्या हरिदासवर्याः ॥ २४ ॥

अथ सख्यम्–

सम्पाद्य वस्तुसाराणि यत्नात् प्रेम्णा निजेशितुः ।
सखिवद्यत्प्रियाधानं तत्सख्यं परिकीर्तितम् ॥ २५ ॥

यथा–

स्वस्याथवा सर्वजनस्य यद्यत् प्रियं तथा दुर्लभमत्र वस्तु ।

अथाऽऽत्मनिवेदनम्-

समर्प्यात्मादिकं सर्वं प्रभवे गुर्वनुज्ञया ।
सेवेत चिन्तया हीनस्तदात्माभिनिवेदनम् ॥ २७ ॥

यथा-

देहेन्द्रियादिधनपुत्रकलत्रकाद्यं
सर्वं समर्प्य हरये हरिमुग्रपुण्याः ।
तत्पोषणप्रभृतिकर्मणि मुक्तचिन्ता
मृत्याप्तगोवदनिशं परिशीलयन्ति ॥ २८ ॥

इति भक्तिरसः ॥

अथ रसानां तद्भावानां च व्यवस्था निरूप्यते—

रसत्वं तु तदैवैषां यदौचित्येन वर्णनम् ।
अनौचित्यप्रवृत्ताश्चेद्रसा (भासा ?) भवन्त्यमी ॥ २९ ॥

न च शृङ्गाराङ्गत्वेनैव हास्यादीनां रसत्त्वं नान्यथेति वाच्यम् । यतो युद्धरसातिनिमग्न-मनसो महावीरस्य तदा शृङ्गारलेशोऽपि न दृश्यते नापि स न रस इत्यपि वक्तुं न शक्यते । लोके कीदृगस्यात्र रस उत्पन्नोऽस्ति पश्यतेत्युक्तेः श्रूयमाणत्वात् । लोकश्च रसत्वं विना रस-शब्दोच्चारं न कुर्यात् । रूढिरपि न निर्मूला भवति । ननु तत्रापि सुरललनासङ्गमौत्सुक्यं शृङ्गारोस्तीति चेन्न तदौत्सुक्यस्य मरणानन्तरं भावित्त्वात् । तदात्त्वे (तत्काले) तु शत्रुकृतपरा-भवभवामर्षानलज्वालावलीवलीढनातिमूढमनसः केवलं तत्प्रतिकर्त्तुं युद्धरस एवात्यभिनि-वेशो नेतरत्र । तस्मात् शृङ्गाराङ्गत्वेनैतेषां सम्यगतिस्वादुत्वं भवतीति सुखेन वाच्यम् न पुन-स्तेषां तदङ्गत्वेनैव रसत्वं नान्यथेत्यतिनिर्बन्धनीयमिति दिक् !

यथौचित्यमतोऽमीषां क्रियते वर्णनं यदा ।
तदैव रसता सम्यग्रसभङ्गोऽन्यथा भवेत् ॥ ३० ॥

विरोधिनोऽथ मित्राणि केचित्केचिद्रसा मिथः ।
तेषां यथातथं कार्यं सन्दर्भेषु निरूपणम् ॥ ३१ ॥

तत्र मित्राणि यथा—

शृङ्गारहास्ययोर्मैत्री रौद्रस्य करुणस्य च ।
वीराद्भुतौ मिथो मित्रे बीभत्साख्यभयानकौ ॥ ३२ ॥

अलङ्कारशेखरे तु—

"शृङ्गारहास्यौ करुणबीभत्सौ वीररौद्रकौ ।
भयानकाद्भुतौ मित्रे मिथः शान्तो न कस्यचित्" इति ॥ ३३ ॥

अप्येषां जन्यजनकभावो मैत्र्येऽस्ति कारणम् ।
पूर्वः पूर्वोऽत्र जनको जन्य उत्तर उत्तरः ॥ ३४ ॥

यथोक्तं भरतेन—

"शृङ्गारात्तु भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीरात्स्यादद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः" इति ॥

रसानां मिथो विरोधे भरतः —

"शृङ्गारबीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः" ॥ १ ॥

अनौचित्ये भवन्त्येते मित्राण्यपि हि शत्रवः ।
शत्रवोऽपि च मित्राणि यदौचित्यं प्रवर्तितम् ॥ ३५ ॥

युगपच्चैकविषये न ब्रूयाद्वैरिणो रसान् ।
न वैरिस्थायिभावं न विभावं नानुभावकम् ॥ ३६ ॥

वैरिसश्चारिभावं वा न वदेद्वै कदाचन ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिश्चेद्रसहानिस्तदा ध्रुवम् ॥ ३७ ॥

अनौचित्ये प्रवर्त्तनायां अवैरे वैरं, रसहानिर्यथा—

दृष्ट्वैकान्तगृहे वरो नववधूं धृत्वाङ्कमारोप्य च
संश्लिष्याननमाविचुम्ब्य पुलकस्वेदादिभावाकुलः ।
आगच्छन्तमदूरतो गुरुजनं दृष्ट्वाथ मुक्त्वाच तां
तूष्णीमास समास्तसर्वमदनव्यापारवद्विक्रियः ॥ ३८ ॥

अत्र गुरुजनान्निर्मर्यादत्वापादनशङ्कयात्युत्कसापत्रपभयोत्पत्तौ शृङ्गारभङ्गः । अतः शृङ्गारभयानकयोरवैरे वैरं, शृङ्गारे भयानकविभाववर्णनमत्रानौचित्यम् । औचित्ये तु न विरोधो नापि रसहानिः । यथा—

दयितेन रसावेशाद्दष्टे गाढं प्रियाधरे ।
स्रुतं च प्रसृतं तत्र रक्तं लाक्षारसायितम् ॥ ३९ ॥

अत्रौचित्यात् शृङ्गारबीभत्सयोर्न विरोधो नापि रसभङ्गः ॥

भिन्ने तु सति देशे न विरोधो वैरिणोरपि ।
घटस्य भूतले यद्वद्भावाभावकयोस्तथा ॥ ४० ॥

रसानामेकस्मिन्स्थले युगपद्वर्णनेऽपि स्थलावयवभेदे सति न विरोधो न च रसहानिर्भवति ॥ यथा–

धनुः करतले धृतं जनकजामुखे चक्षुषी
स्मितं भृगुपतेः पराक्रममवेक्ष्य चाविष्कृतम् ।
मनस्तु कृतमुद्धतद्विजगतेर्निरोधे क्रुधा
श्रुतिः पितृवचः श्रुतावपि च रामभद्रेण तत् ॥ ४१ ॥

अत्र करनेत्रादिदेशभेदेन वीरशृङ्गारहास्यरौद्राद्भुतानां युगपन्निबन्धनेऽपि न विरोधो न रसहानिः ॥

'काले भिन्नेऽपि नो हानिर्युगपत्तन्निरूपणे ।'

एकस्मिन् स्थलेऽपि भिन्नसमयतया युगपन्निरूपणे न दोषः ॥ यथा—

सेनान्या सह धूर्जटेः किल मया विद्यानवद्यार्जिता
प्रोन्मथ्यार्जुनमर्जुनीर[2] पितृपदे प्रत्यर्पिताऽऽनीय च ।
तात्रं चोद्धतमानिहत्य बहुशस्तच्छोणितात्तर्पणै-
र्भूयिष्ठं परितर्पिताः स्वपितरः प्राप्तोऽपकर्षो हरेः ॥ ४२ ॥

अत्र तत्तत्समयभेदादद्भुतवीररौद्रबीभत्सशान्तानामेकत्र युगपन्नि-बन्धने न विरोधो न रसभङ्गः ।

अङ्गाङ्गीभावापन्नानामेकत्र युगपच्च यः ।
समावेशो हि शाबल्यं रसानां परिकीर्तितम् ॥ ४३ ॥

रसशबलतायामपि 'धनुः करतले धृत'मिति तथा 'सेनान्या सह धूर्जटे'रितिश्लोकद्वयमेवोदाहरणम् ॥

अनौचित्यात्तु सर्वत्र शृङ्गारे त्वेककाश्रयात् ।
रसाभासस्तथैकस्य बद्धासक्त्याऽव्यवस्थया ॥ ४४ ॥

शृङ्गारादिषु सर्वत्र सुहृदोऽप्यन्तरा पुनः ।
अतिप्रसङ्गादन्यस्य रसाभासस्तदा तथा ॥ ४५ ॥

अत्रायं निष्कर्ष :—

सर्वथौचित्यमेवात्र रसतां प्रति कारणम् ।
इति निष्कृष्टसिद्धान्तः कृतः पूर्वैः कवीश्वरैः ॥ ४६ ॥

---

(१) तदा ।
(२) 'अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यादुत्तमा गोषु नैचिकी' त्यमरः । (सं)

अथ रसदोषाः ॥

स्वस्वशब्दैरुपादानं भावस्य च रसस्य च ।
कष्टप्रकल्पनीयत्वमनुभावविभावयोः ॥ १ ॥

अकान्तरयवैरित्वं तेषां व्यक्तिविपर्ययः ।
अनौचिती च सर्वत्र रसदोषाः स्युरीदृशाः ॥ २ ॥

अन्येऽपि रसभावानां सन्ति दोषा गुणा अपि ।
ते चान्यग्रन्थतो ज्ञेया नात्रोक्ता ग्रन्थविस्तरात् ॥ ३ ॥

इति रसव्यवस्था ॥

अथ भावव्यवस्था—

यथा रसास्तथा भावा औचित्याद्भावतामियुः ।
भावानामपि शान्त्याद्या व्यवस्थाः कविभिः कृताः ॥ ४७ ॥

तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

'भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा' इति ।

तत्र भावशान्तिर्नाम—

उत्पन्नस्याथ भावस्य प्रशमः सुखतो भवेत् ।
केनचिद्धेतुनाऽकस्माद्भावशान्तिस्तु सा मता ॥ ४८ ॥

अनुत्पन्नस्य चाकस्मादुत्पत्तिरुदयो मतः ।
भावयोर्युगपत्सन्धिः समावेशः प्रकीर्तितः ॥ ४६ ॥

एकत्र युगपच्चैषां समावेषो (शो) ऽविरोधतः ।
ज्ञेयं तद्भावशाबल्यं रसभावविचक्षणैः ॥ ५० ॥

अथैषां क्रमेणोदाहरणानि—भावशान्तिर्यथा-

प्रियेणोक्ता प्रत्यागमनदिवसादद्य सकलो
व्यतिक्रान्तो मासस्तदपि सखि नायाति स कथम् ।
इति क्षीणा चिन्तातितिभिरवधार्यागत इति
प्रियस्ते सा पुष्टामृतसरसि मग्नेव समभूत् ॥ ५१ ॥

अत्र चिन्तावितर्कयोः शान्तिः ॥ भावोदयो यथा—

मा मा मैवमपत्रपाकरमिदं धर्म्यं न चैवं प्रिया
नीवीं मोचयितुं हठं कृतवति प्रेष्ठे ललाप क्षणम् ।
पश्चादुद्भवदुत्करस्मरवशादस्वस्थचेतस्तया
भर्त्तारं न निषेद्धुमप्यपगतां नीवीं न बद्धुं क्षमा ॥ ५२ ॥

अत्र मोहजाड्ययोरुदयः ॥ अथ भावसन्धिर्यथा--

नूनं निर्गतवेद्यकान्तरमहानन्दामृतस्यन्दिनः
काव्यस्य प्रविनिर्मितौ दृढतया सक्तं यथा मे मनः ।
तद्व्यालयितुं ततस्तदधुना वामभ्रुवो विभ्रमाः
केऽप्यत्युच्चसुधातिरागपटवोऽप्यन्तःप्रविष्टा बलात् ॥५२॥

अत्र विषादौत्सुक्ययोः सन्धिः । विषादश्चात्र प्रारब्धकार्यानिर्वाहात्
अथ भावशबलता, यथा— .

किं क्षुद्रैररिभिश्चमूश्च सकला भग्नाऽस्मदीया रिपून्
निष्प्राणान् विदधामि हन्त निहतः सर्वो जनो नः परैः ।
श्लाघ्यो मृत्युरिहेदृशः प्रतिभटाः क्रूराः कृतास्त्रोऽप्यहं
श्रान्तोऽश्वः प्रहरामि सत्वरमहो क्षात्रं करालं व्रतम् ॥ ५३ ॥

अत्र गर्वविषादामर्षदैन्यमतित्रासधृतिचिन्ताचपलतावितर्काणां भावानां साङ्कर्यात् भावशबलता, यथा वा—

स्थास्याम्येव विना तया कथमिह क्वार्थः प्रवासं विना
तस्यास्तद्वचनं सुधैव हृदयं स्थैर्यं विधाय स्थिरम् ।
आश्लेषं सुदृशः कदा पुनरहं प्राप्स्ये किमाशंसनै-
श्चेतो विक्लवतां त्यज प्रणयिनी कस्यापि नैतादृशी ॥५४॥

अत्र दैन्यमतिस्मृतिधृत्यौत्सुक्यविषादहर्षाणां साङ्कर्यम् ।
इति भावव्यवस्था ॥

अथ रीतयो वृत्तयश्च ॥

वैदर्भ्याद्या रसानां वै चतस्रः सन्ति रीतयः ।
रीत्या संदर्भणं चैषां कुरुते हि चमत्कृतिम् ॥ ५५ ॥

यथारीति यथावृत्ति संदर्भ्याः काव्यसम्पदः ।
विशेषतो रसाश्चाभिर्वर्णनीया यथातथम् ॥ ५६ ॥

अरीत्या कथनेनापि रसाभासा भवन्त्यमी ।
रीत्या विपर्ययेणापि प्रोक्ता पुष्णंति नो रसम् ॥ ५७ ॥

लोकेऽपि रीत्या क्रियते कर्म नो चेन्न शोभते ।
उपहासपदं चैतत् यद्यरीत्या कृतं भवेत् ॥ ५८ ॥

रसाश्च रसभावाश्च रीतयो वृत्तयस्तथा ।
यथौचित्यं निबद्धाश्चेत् सचमत्कारकारिणः ॥ ५९ ॥

तत्र रीतित्वं नाम, वृत्तित्वं नाम ।

इतिकर्त्तव्यता सर्वकर्मणां रीतयः स्मृताः ।
वृत्तयो वर्तनं तासां याथातथ्येन कर्मसु ॥ ६० ॥

रीतयश्च ।

वैदर्भी मागधी गौडी पाञ्चाली चेति रीतयः ।
चतस्रो वृत्तयोऽप्यासां चतस्रो हि यथाक्रमम् ॥ ६

कैशिकी भारती चाथ तथैवारभटी परा ।
सात्वती चेति विज्ञेयाश्चतस्रो वृत्तयोऽप्यमूः ॥ ६२ ॥

वैदर्भ्याः कैशिकी वृत्तिर्मागध्या भारती तथा ।
गौड्याश्चारभटी वृत्तिः पाञ्चाल्याः सात्वती मता ॥ ६३ ॥

अत्युद्दण्डाक्षरैर्युक्ता छन्दोभिश्च तथाविधैः ।
बृहत्समासा तुच्छार्था गौडी घोरेषु कर्मसु ॥ ६४ ॥

ईषन्मृद्वक्षरा किञ्चिन्मृदुच्छन्दास्तथापदा ।
ईषल्लघुसमासा [च] मागधी सर्वतः समा ॥ ६५ ॥

किञ्चित्प्रोढार्थसन्दर्भा किञ्चित्प्रौढपदा तथा ।
तादृक्समासा पाञ्चाली मागध्यां सा मिलत्यपि ॥ ६६ ॥

केषाञ्चिद्रीतयस्तिस्रो मते सन्त्यथ वृत्तयः ।
मागध्यां तत्र पाञ्चाल्यास्तद्वृत्तेश्च प्रवेशनम् ॥ ६७ ॥

वृत्तीनां स्वरूपलक्षणम् ।

कैशिकी मृदुसन्दर्भा किञ्चिन्मृद्वी च भारती ।
उद्दण्डाऽरभटी ज्ञेया किञ्चित्प्रौढाऽथ सात्वती ॥ ६८ ॥

अथासां क्रमेणोदाहरणानि । तत्रातिमृदुसन्दर्भा स्निग्धपदा लघुसमासा ललिता अतिसुन्दरा वैदर्भी रीतिर्यथा—

तवाक्षि लोलाक्षि मृगाक्षिजित्वरं
वचश्च पीयूषपराजयक्षमम् ।
वपुश्छविः कामवधूत्रपाकरी
गतिर्मरालाङ्गनगर्वहारिणी ॥ ६९ ॥

यथा वा—

सन्त्यत्र नाम बहवः कवयः प्रगल्भाः१

कुर्वन्ति ये निजकृतैः स्वयमेव कीर्तिम्।

ते दुर्लभाः सुकवयः किल यत्प्रबन्धान्

पीयूषवत्परिनिपीय परे स्तुवन्ति ॥ ७० ॥

अपि च—

श्रुत्वा सत्पुरुषाः स्तुवन्ति सुतरां वाचः कवीनां सती–

र्दोषादोषविचारपूर्वकमथो मध्या वदन्ति स्फुटम्।

दोषांस्तासु विवृण्वतेऽथ कुटिलास्तेभ्योऽतिदुष्टाः खला–

स्ते किञ्चिन्न वदन्त्यनादरतया शृण्वन्ति नो पामराः ॥७१॥

इयं रीतिः शृङ्गारकरुणयोः सन्दर्भे योजनीया। अथ ईषत्स्निग्धा ईषल्लघुसमासा किञ्चिन्मृदुवृत्ता मागधी यथा–

उज्जृम्भन्नवनीलनीरजवनोद्गच्छन्मिलिन्दावली

प्राग्भारप्रतिमप्रगल्भनयनप्रान्तेक्षणाख्येषुभिः।

बिध्यन्कामिकुरङ्गकस्य हृदयं सम्मोह्य मञ्जीरक–

स्निग्धाव्यक्तरवेण गच्छति वधू व्याधो न रण्येऽध्वनि ॥७२॥

इयं रीतिर्हास्य शान्ताद्भुतानां प्रबन्धे योजनीया। अथ अत्युद्दण्डाडम्बर प्रदाऽतिलम्बायमानसमासा अतिकष्टोच्चारान्तरा उद्दण्डवृत्ता गौडी यथा—

प्रावारीकृतनागचर्मकठिनप्रान्तप्रबद्धोद्धुर–

ग्रन्थिव्याप्तविशालभस्मविलसद्वक्षःस्थलव्याकुलः।

पायाद्दुर्ज्जरकालकूटकणिकाजंबालकालीकृत–

ग्रीवाऽश्लिष्टभुजङ्गभोगवलयश्चण्डीश्वरो वश्चिरम् ॥ ७३ ॥

१—धृष्टाः।

इयं रीतिस्तु रौद्रबीभत्सयोः सन्दर्भे योजनीया ।

अथ ईषत्प्रौढा अतिगम्भीरपदा अनतिविस्तृतसमासा किञ्चित्प्रौढच्छन्दा किञ्चित्प्रौढाक्षरसन्दर्भा पाञ्चाली यथा—

गुर्वर्थोज्ज्वलसत्प्रबन्धरचनाविज्ञानलेशाविदां
दृष्टादृष्टिकयैव केवलपदावल्याः समुद्गुम्फिनाम् ।
नो काव्यानि तथा प्रियाणि रसवत्काव्यज्ञराज्ञां यथा
ग्राम्याणामितरोऽन्य एव हि पुरस्त्रीणां दृशोर्विभ्रमः ॥७४॥

इयं रीति वीरभयानकयोः सन्दर्भे योज्या ॥

अथ रसानां रीतिव्यवस्था—

अत्यन्तमृदवोऽत्यन्तप्रौढाश्चापल्यपेशलाः ।
ईषत्प्रौढा रसाश्चापि सन्त्येतान्नामतो ब्रुवे ॥ ७५ ॥

शृङ्गारकरुणौ चोभावत्यन्तमृदुलौ रसौ ।
अतिप्रौढौ तु भवतो रौद्रबीभत्ससंज्ञकौ ॥ ७६ ॥

ईषत्प्रौढौ तु विज्ञेयावुभौ वीरभयानकौ ।
ईषन्मृदुनिसर्गाश्च शान्तहास्याद्भुता रसाः ॥ ७७ ॥

वैदर्भ्या वर्णनीयौ तौ शृङ्गारकरुणावतः ।
तत्र चैकैव वृत्तिः स्यात् सन्दर्भश्चातिपेशलः ॥ ७८ ॥

रौद्रबीभत्सकौ गौड्या रीत्या सन्दर्भमर्हतः ।
तत्र चारभटी वृत्तिर्वृत्तं च स्रग्धरादिकम् ॥ ७९ ॥

हास्यशान्ताद्भुता रीत्या मागध्यार्हन्ति वर्णनम् ।
वृत्तिर्वै भारती तत्र सन्दर्भोऽपि मनाङ् मृदु ॥ ८० ॥

पाञ्चाल्या वर्णनीयौ तौ रसौ वीरभयानकौ ।
ईषत्प्रौढोऽस्ति सन्दर्भो वृत्तिस्तत्र तु सात्वती ॥ ८१ ॥

लौकिकं कर्मापि रीत्या एव कर्त्तव्यमित्युक्तं तद्यथा—

वैदर्भ्या कर्म कर्त्तव्यं रीत्या वैवाहिकादिकम् ।
वाणिज्याद्यं तु मागध्या पाञ्चाल्या राजसेवनम् ॥ ८२ ॥

कर्म यच्चाभिचाराद्यं घोरं गौड्याऽभिसाधयेत् ।
एवं लोकेऽपि कर्त्तव्यं रीत्या कर्म विचक्षणैः ॥ ८३ ॥

विवाहादिकं समस्तसंस्कारकर्म अतिमृदु अस्ति तन्मृद्व्या वैदर्भ्या रीत्या कर्त्तव्यम् । तथा वाणिज्यकृष्यादिकं ईषन्मृदुकठिनं तादृश्या मागध्या रीत्या कर्त्तव्यम् । तथा राजसेवादिकं ईषत्प्रौढं मृदु तत्तादृग्विधया पाञ्चाल्या कार्यम् । तथा च आभिचारकलहादिकं अति क्रूरं अस्ति तदति क्रूरया गौड्या रीत्या कर्त्तव्यम् ॥ एवं श्लोकपठनेऽपि ज्ञातव्यम् । अरीत्या न किञ्चिन् करणीयमित्यर्थः ॥

इति रसदीपिकायां भक्तिरसभावव्यवस्थारीतिनिरूपणं नाम चतुर्थं सोपानम् ॥

पञ्चमं सोपानम्

अथ काव्यस्य रसोपजीव्यत्त्वात् संक्षेपात् तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

रसानां वर्णनं काव्ये क्रियतेऽन्यत्र नो यतः ।
अतः संक्षेपतः काव्यव्यवस्थापि निरूप्यते ॥ १ ॥

तत्र काव्यं नाम—

यस्तु शब्दार्थसन्दर्भश्चमत्कारकरोऽनघः ।
काव्यं तद्गुणवच्चान्यत्काव्याभासमुदीर्यते ॥ २ ॥

अत्र चमत्कारकरत्वं रसालङ्कारयुक्तत्वं अनघत्त्वं दोषरहितत्वं गुणवदिति गुणयुक्तत्वम् ॥

कीर्त्यादिफलदं काव्यमिति पूर्वविदो विदुः ।
काव्यस्य करणे हेतुश्चैतेऽर्थाः संगता मताः ॥ ३ ॥

ते यथा—

देवतोपासनं पूर्वसंस्कारस्तीव्रबुद्धिता ।
द्वित्रव्याकरणज्ञानं त्रिचतुःकोशसंस्तवः ॥ ४ ॥

शास्त्रज्ञानं सर्वलोकव्यवहारप्रवीणता ।
काव्यावलोकः काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास उत्कटः ॥ ५ ॥

प्रातःकालादिकः कालस्तदैकासक्तचित्तता ।
एते सम्मिलिताः काव्यहेतुर्व्यस्ता न कर्हिचित् ॥ ६ ॥

तच्च काव्यं त्रिधा भेदैरुत्तमाधममध्यमैः ।
उत्कृष्टो यस्य व्यङ्ग्योऽर्थो वाच्यस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ ७ ॥
वाच्योऽर्थो व्यङ्ग्यतो यस्य श्रेष्ठस्तन्मध्यमं स्मृतम् ।
शब्दार्थाऽडम्बराव्यङ्ग्यं चित्रकाव्यं तथाऽधमम् ॥ ८ ॥

उत्तमं यथा—

स्वच्छाः समृद्धान्तरनल्पसत्त्वा गम्भीरतामप्यविमुञ्चमानाः ।
स्वसम्पदा जीवितजीवलोकाः सन्तः समुद्रा इव दुर्विभाव्याः ॥ ९ ॥

अत्र स्वच्छा इत्यनेन दयादाक्षिण्यादिकान्तगुणाश्रयत्त्वेनाभिगम्यतया लोकरञ्जकत्त्वं व्यज्यते, तथा समृद्धान्तरनल्पसत्त्वा इत्यनेन बलशौर्यादिभीमगुणाश्रयत्त्वेनाप्रधृष्यतया तेजस्वित्त्वं व्यज्यते । गम्भीरतामप्यविमुञ्चमाना इत्यनेनातुच्छस्वभावत्त्वेन लोकपूज्यत्त्वं व्यज्यते । तथा स्वसम्पदा जीवितजीवलोका इत्यनेन स्वसम्पदः सर्वोपभोग्यत्वेन यशस्वित्त्वं व्यज्यते । तथा समुद्रा इवेत्यनेन मर्यादास्थिरत्त्वेन पुण्यात्मत्त्वं व्यज्यते तथा च दुर्विभाव्या इत्यनेनाप्यशक्यविभावनत्त्वेन लोकोत्तरपुरुषार्थत्त्वं व्यज्यते इति व्यङ्ग्यार्थः । स च श्लोकस्य प्रदर्श्यमानाद्वाच्यार्थादुत्कृष्टोऽत इदमुत्तमम् ।

मध्यमं यथा—

तवाक्षि लोलाक्षि मृगाक्षिजित्वरं
वचश्च पीयूषपराजयक्षमम् ।
वपुश्छविः कामवधूत्रपाकरी
गतिर्मरालाञ्चनगर्वहारिणी ॥ १० ॥

अत्र तवाक्षि इत्यादिनाऽक्ष्णोर्विशालत्वचञ्चलत्वे व्यज्येते । तथा वचश्च पीयूषेत्यादिना वचसो मधुरत्वं व्यज्यते । तथा वपुश्छविरित्यादिना वपुषोऽतिसुन्दरत्वं व्यज्यते । तथा च गतिर्मरालाञ्चनेत्यादिना गते-र्मान्द्यललितत्वं व्यज्यते । इति व्यङ्ग्यार्थात् श्लोकगतवाच्यार्थश्चमत्कृतो-ऽस्ति अत इदं मध्यमम् ।

अथाधमं चित्रकाव्यं तच्च शब्दचित्रार्थचित्रभेदाद् द्विविधम् । तत्र शब्दचित्रं बहुलानुप्रासादियुक्तं यथा--

प्रावारीकृतनागचर्मकठिनप्रान्तप्रबद्धोद्धुर-
ग्रन्थिव्याप्तविशालभस्मविलसद्वक्षस्थलव्याकुलः ।
पायाद्दुर्जरकालकूटकणिकाजंबालकालीकृत-
ग्रीवाऽश्लिष्टभुजङ्गभोगवलयश्चण्डीश्वरो वश्चिरम् ॥ ११ ॥

अत्र न कश्चिद्व्यङ्ग्यार्थः । अर्थचित्रं अतिशयोक्त्युत्प्रेक्षादिप्रतिपादि-तार्थातिशययुक्तं यथा—

यशःप्रतापौ किल यस्य धात्रा कृत्वा जगत्प्रेङ्खवरे निधाय ।
तयोः शिशुक्रीडनके इवेमौ तस्योपरीन्दूष्णकरौ निबद्धौ ॥ १२ ॥

इदमधमम् ।

अथ शब्दार्थसन्दर्भः काव्यमित्युक्तं, तत्र शब्दो नाम—

शब्दः सुप्तिङ्समुत्पन्नं वर्णवृन्दं तु शक्तिमत् ।
विधिसङ्केतितस्तेषु योऽर्थः शक्तिस्तु सा मता ॥ १३ ॥

अथार्थस्वरूपम्-

वाच्यो लक्ष्यस्तथा व्यङ्ग्यः शब्दस्यार्थस्त्रिधा मतः ।
तिसृभिर्वृत्तिभिर्यस्माच्छब्दस्य प्रतिपादितः ॥ १४ ॥
शक्तिश्च लक्षणा चैव व्यञ्जना चेति वृत्तयः ।
प्रसिद्धार्थस्य शब्देषु शक्तिर्विज्ञानकारिणी ॥ १५ ॥

लक्षणा लक्षितार्थस्य व्यञ्जना व्यञ्जितस्य च ।
वाच्यः प्रसिद्धः शब्देषु योऽर्थः स्फुरति तत्क्षणात् ॥ १६ ॥

अनिर्वाहात्तु वाच्योऽर्थो विषये स्वे प्रबाधितः ।
यत्स्वसम्बन्धिनं लग्नो लक्षयेत्सा हि लक्षणा ॥ १७ ॥

जहत्स्वार्थाऽजहत्स्वार्था चोभयार्था च सा त्रिधा ।
गङ्गायां घोष इत्यत्र जहत्स्वार्थाऽवगम्यताम् ॥ १८ ॥

कुन्ताः प्रविष्टा इत्यत्राऽजहत्स्वार्था च सम्मता ।
मञ्चाः क्रोशन्ति चेत्यत्रोभयस्वार्था प्रकीर्तिता ॥ १९ ॥

तिसृणामप्युदाहरणं यथा—

कालिन्द्यामुदयद्विभूषणरवैरुड्डीनवृक्षावली
पर्यन्तेषु निरीक्षणाय परितस्तिष्ठद्विमानावली ।
गोपीनां सह मण्डलेन महता प्रारब्धरासोत्सवो
भ्राम्यन्मे (घ) धियोन्मुखीकृतवनः पायात्स नः केशवः ॥२०॥

अत्र कालिन्द्यामित्यनेन तत्तटे तथा वृक्षावलावित्यनेन वृक्षस्थविहङ्गग्रहणं वृक्षाणामुड्डयनासम्भवादत्र जहल्लक्षणा तथा विमानशब्देन तत्रस्थदेवग्रहणं विमानानां निरीक्षणासम्भवादत्राजहल्लक्षणा विमानानामपरित्यागात् । उन्मुखीकृतवन इत्यत्र वनशब्देन मयूरग्रहणं तेषां मेघदर्शनेनोन्मुखीभवनसम्भवात् अत्रोभयस्वार्था लक्षणेति दिक् ।

सन्त्यन्ये लक्षणाभेदास्तेऽन्यग्रन्थेषु दर्शिताः ।
योऽर्थो लक्षणया प्राप्तः स लक्ष्य इति कथ्यते ॥ २१ ॥

वाच्योऽर्थो वाऽथ लक्ष्योऽर्थो भूत्वात्मविषये स्फुटः ।
व्यञ्जयेत्कञ्चिदन्यार्थं यत्सा च व्यञ्जना स्मृता ॥ २२ ॥

अत्र 'स्वच्छाः समृद्धान्तरनल्पसत्त्वा' इत्ययं श्लोक उदाहरणम् ।

व्यञ्जना त्रिविधा ज्ञेया मोचनी कामिनी क्रिया ।
प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्फूर्तिर्यया सा मोचनी स्मृता ॥ २३ ॥

प्रस्तुतस्य तु याऽन्यार्थं व्यञ्जयेत्सा तु कामिनी ।
प्रस्तुताऽप्रस्तुतावन्यौ करोति स्फुरितौ क्रिया ॥ २४ ॥

प्रभूता व्यञ्जनाभेदास्तेऽप्यन्यत्र प्रपञ्चिताः ।
व्यञ्जनाव्यञ्जितो योऽर्थः स व्यङ्ग्य इति हि स्मृतः ॥ २५ ॥

इति शब्दार्थयोः स्वरूपम् ॥

अथ यदुक्तं शब्दार्थसन्दर्भः काव्यं, तत्र सन्दर्भो नाम–

छन्दोभिर्गुम्फना तेषां सन्दर्भः परिकीर्तितः ।
छन्दांसि गणवृत्तानि गायत्र्यादीनि सन्ति हि ॥ २६ ॥

मगणादिर्गणो वर्णत्रयात्माऽष्टविधो मतः ।
गुरुश्च लघुसंज्ञश्च वर्णोऽत्र द्विविधः स्थितः ॥ २७ ॥

वर्णो विसर्गसंयोगानुस्वारपरको गुरुः ।
दीर्घोऽथ सरलो ह्रस्वो विसर्गाद्यैर्विना लघुः ॥ २८ ॥

वर्णस्यास्य त्रिकं यत्तु स गणः परिकीर्तितः ।
शब्दजालं गणैर्व्याप्तं ते चाप्यष्टाविमे यथा ॥ २९ ॥

मगणो यगणश्चैव भगणो नगणस्तथा ।
रगणः सगणश्चाथो तगणो जगणोऽष्टमः ॥ ३० ॥

चत्वारोऽमीषु ये त्वाद्या मादयो मङ्गलप्रदाः ।
अन्त्यास्तु रगणाद्या ये ते ह्यभद्रफलप्रदाः ॥ ३१ ॥

मयौभनावतो ग्रन्थप्रारम्भे प्रथमं शुभौ ।
सन्दर्भमर्हतस्तौ तु न रसौ न तजौ तथा ॥ ३२ ॥

रस्तजा देवभद्रादिवाचकैर्ध्वनिभिर्यदा ।
निबद्धाः प्रथमं दोषो न तदेति विनिश्चयः ॥ ३३ ॥

अथाऽष्टगणस्वरूपम्-- ।

त्रिगुरुर्मगणो ज्ञेयो भूमिरस्यास्ति दैवतम् ।
निबद्धः प्रथमं पद्ये श्रियं दिशति पुष्कलाम् ॥ ३४ ॥

लघ्वादिर्यगणो बुद्धेर्दाता पानीयदैवतः ।
कीर्तिदो भगणश्चाद्यगुरुश्चन्द्रोऽस्य दैवतम् ॥ ३५ ॥

त्रिलघुर्नगणो नाकदैवतश्चायुषः प्रदः ।
रस्तु मध्यलघुर्वह्निदैवतोऽन्तप्रदः स्मृतः ॥ ३६ ॥

सगणोऽन्त्यगुरुर्वायुदैवतोऽथ प्रवासदः ।
लघ्वन्त्यो व्योमदैवत्यस्तगणो धननाशकृत् ॥ ३७ ॥

रोगकृज्जगणो मध्यगुरुश्चैवार्कदैवतः ।
एभिर्व्याप्तमिदं सर्वं गणैर्वाङ्मयमस्ति यत् ॥ ३८ ॥

बद्धान्यार्यादिकान्येभिर्वृत्तानि पिङ्गलादिभिः ।
वृत्तरत्नाकरे तानि द्रष्टव्यानि विचक्षणैः ॥ ३९ ॥

अवश्यं काव्यनिर्माणे छन्दोज्ञानमपेक्षितम् ।
तत्र विस्तरसंत्रासाद्विस्तरेणात्र दर्शितम् ॥ ४० ॥

इति सन्दर्भव्यवस्था ।

अथ रसालङ्कारयुक्तत्वं चमत्कारित्वमित्युक्तं तत्र रसास्तु पूर्वमुक्ताः, अथाऽलङ्कारा उच्यन्ते—

अलङ्कारास्तु काव्यस्य सच्छोभाकारकाः स्मृताः ।
यथा हारादिका भूषाः कुरूपस्यापि रूपदाः ॥ ४१ ॥

अलङ्करोति योऽत्यर्थं सोऽलङ्कारः प्रकीर्तितः ।
सच्चमत्कारकारित्वं वाऽलङ्कारस्य लक्षणम् ॥ ४२ ॥

तेऽलङ्कारा द्विधा भेदाच्छब्दस्यार्थस्य चोभयोः ।
शब्दाऽलङ्कृतयस्तत्राष्टानुप्रासादयो मताः ॥ ४३ ॥

ते यथा—

अनुप्रासश्च वक्रोक्तिश्चित्रं गूढं प्रहेलिका ।
श्लेषः प्रश्नोत्तरं शब्दालङ्कारा यमकं तथा ॥ ४४ ॥

तत्र—

अनुप्रासो वर्णसाम्यं लाटश्छेकश्च स द्विधा ।
आवृत्तिश्चैकवर्णस्यासकृल्लाटाभिधो हि सः ॥४५॥

यथा—

कामकेलिकलाकालकोविदः किल कामुकः ।
कामिनीकामुकः कामी चक्रे कार्यं कलं निशि ॥४६॥

सकृत्साम्यमनेकस्य स छेको व्यञ्जनस्य यत् ।
उर्वीं धराधरैर्गुर्वीं फणाग्रेणाधरत्फणी ॥४७॥

अन्याभिप्रायकथितं वाक्यमन्येन चान्यथा ।
निषिध्यतेऽर्थमुत्पाद्य वक्रोक्तिः सा प्रकीर्तिता ॥४८॥

यथा—

कोऽयं द्वारि स्थितः स्थाणुर्वनादुपगतः कथं ।
हरोऽहं चौर्यकग्राहि जागम्यंन्यत्र कुत्रचित् ॥४९॥

चित्रं कौतुककारीह छत्रबन्धादिकं बहु ।
तच्च माघकिरातादिकाव्येष्वस्ति प्रवर्णितम् ॥५०॥

खड्गबन्धो यथा—

देवसेवन वरिष्ठविश्वप प्राप्तपूर्णपरमार्थदायकः ।
कः कृपां तव कृपान्तवर्जितो तर्जितो तनुत नूतनानना ॥५०॥

कर्तृकर्मक्रियालिङ्गगुप्ताद्यं गूढमुच्यते ।
कोऽमलं वचनं वक्तुं क्षमो नाम हितं हि तम् ॥५१॥

अत्र कः ना इति कर्तृगुप्तम् ॥

च्युतदत्ताक्षराद्येन सकृत्प्रश्नः प्रहेलिका ।
गृह्णाति कठिनौ कान्ताकुचौ गाढं न को नरः ॥५२॥

अत्र नकारस्थाने मकारे दत्तो रेफस्थाने लकारे कृते कोमल इत्युत्तरं भवति ॥

श्लेषः शब्दस्य वाक्यस्य नानार्थाश्रयता मतः ।
स द्विजो महनीयो वै योऽध्वरे बलिभागहृत् ॥५३॥

अत्र द्विजो ब्राह्मणः पक्षी च महनीय अमहनीय पदच्छेदादर्थद्वयं भवति ।

द्विधा प्रश्नोत्तरं तद् या बहिश्चान्तश्च लापिका ॥
कार्यक्षमोऽत्र कः शूरः कीदृशः शास्त्रभृत् पुमान् ॥५४॥

अत्र शास्त्रभृदित्युत्तरं उत्तरं एकत्र शास्त्राणि अन्यत्र शस्त्रसमूहः ।

बहिर्लापिका यथा—

सम्बोधनं कस्य किमत्र कः स्यात्
क्षीणः स्त्रियां किं च किमः[1] सुरूपम् ।
को गर्वयुक्तो मनुते न सर्वं
कः कामिनीं कामयते निकामम् ॥५५॥

१—'किम्' शब्दस्य ।

कामी इति प्रत्युत्तरम्। अत्र कस्य नाम प्रजापतिवाचकस्य क शब्दस्य सम्बोधनं, हे क ! तथा कः नरः क्षीणःस्यादिति अस्योत्तरंअमी नाम रोगी तथा स्त्रियां किम् शब्दस्य कीदृशं रूपं इत्यस्योत्तरं का इति तथा गर्वयुक्तः कः सर्वं न मनुते इत्यस्योत्तरं मी नाम मा लक्ष्मीस्तद्वान्। तथा कामिनी कः कामयते इत्यस्योत्तरं कामी। अत्र व्यस्तपदानि। क अमी कामी समस्तं कामी इत्येकं पदम्।

द्विरुक्तिर्यमकं तुल्यस्वरव्यञ्जनसंहतेः।
मम ता ममताहेतुः सम्पदोऽसम्पदोऽस्थिराः ॥५६॥

इति शब्दालङ्काराः ॥

अथाऽर्थालङ्काराः—

अर्थालङ्कृतयो ज्ञेयाश्चतुर्दश बुधेरिताः।
उपमारूपकोत्प्रेक्षाप्रमुखा मुख्यतां गताः ॥५७॥

ते यथोक्ता अलङ्कारशेखरे—

उपमारूपकोत्प्रेक्षाः समासोक्तिरपह्नुतिः।
समाहितं स्वभावश्च विरोधः सारदीपकौ ॥५८॥

सहोक्तिरन्यदेशत्वं विशेषोक्तिर्विभावना।
एवं स्युरर्थालङ्काराश्चतुर्दश न चापरे ॥५९॥

तत्र उपमा नाम—

द्वयोः पदार्थयोर्भेदे साधर्म्यमुपमा स्मृता।
गङ्गाम्भ इव ते शुभ्रं यशो लोकत्रयं गतम् ॥६०॥

प्रभेदा दश सन्त्यस्यास्ते चान्यत्र प्रपञ्चिताः।
भिन्नयोरतिसाम्येनाभेदारोपस्तु रूपकम्[१]।
आस्यं सुधांशुरेवास्या वाक्सुधामभिवर्षति ॥६१॥

१–(ख) रूपकः।

रूपकं पञ्चधा व्यस्तसमस्तादिप्रभेदतः ।
ग्रन्थस्य गौरवाद् भेदास्ते तु नात्र प्रदर्शिताः ॥६२॥

उत्प्रेक्षा वस्तुनः सत्ता कल्पनं चासतः सति ।
कुसुमं किल चन्द्रोऽयं त्वद्यशो वल्लरीभवम् ॥६३॥

प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्फूर्तिः समासोक्तिस्तु सा मता ।
लोकोद्वेगं करोत्येषः क्रूरैश्चण्डकरः करैः ॥६४॥

अत्र प्रस्तुते सूर्यवृत्तान्ते राजवृत्तान्तं स्फुरति ॥ २

अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।
अदशन्मेऽधरं गाढं प्रियः किं न हि षट्पदः ॥६५॥

आरब्धाभिमुखाऽकस्मात्सहायाप्तिः समाहितम् ।
यावन्मे मदनोद्रेकस्तावत्कान्तः समागतः ॥६६॥

स्वभावालङ्कृतिर्वस्तुस्वभावाख्यानमुच्यते ।
गावो हुंभारवैर्वत्सानाह्वयन्ति दिनात्यये ॥६७॥

विरुद्धं भासते यत्र विरोधालङ्कृतिर्द्विधा ।
अविरोधेऽपि तद्भानं विरोधाभास इत्युभौ ॥६८॥

उभौ यथा—

क्वासौ मन्दोद्यमः क्वेदं दुःकरं द्रविणार्जनम् ।
अपीता अप्यमूः१ पीता गावस्तत्र जलाशये ॥६९॥

साराख्यालङ्कृतिर्यत्र श्रेष्ठोक्तिश्चोत्तरोत्तरम् ।
हंसः श्वेतस्ततश्चन्द्रस्तस्मादपि च ते यशः ॥७०॥

१–(ख) राजवृत्तान्तस्फूर्तिः ।　२–(ख) अप्यमी ।

युगपत्सर्ववाक्यानामन्वयो विविधक्रियः ।
दीपकं तच्च विज्ञेयमनन्तं भूरिभेदतः ॥७१॥

यथा—

कुर्वन्ति मार्गणा दैन्यं प्रशंसन्ति पठन्ति च ।
दातुः पुरो निबध्नन्ति तन्मुखे च तथा दृशः ॥७२॥

पूर्वोक्तगेपकार्योपकारकश्रेणिका तु या ।
तन्मालादीपकं प्रोक्तं दीपकस्यैव तद्भिदा ॥७३॥

उभयं यथा—

पाणिं भूषयते दानं तन्न यस्तं तथाश्रुतम् ।
श्रुत्या श्रद्धा तयाऽचारस्तेन सत्कुलता भवेत् ॥७४॥

अत्र पूर्वार्द्धे पूर्वं पूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्योपकारत्वं तथा उत्तरार्द्धे उत्तरं उत्तरं प्रति पूर्वपूर्वस्योपकारत्वम् ।

सहोक्तिस्तुल्यकालत्वकथनं वस्तुनोः क्वचित् ।
ग्रीष्मे सह विशुष्यन्ति जलानि कमलश्रिया ॥७५॥

हेतुः कार्यासमानाधिकरण्यमन्यदेशता ।
त्वं पद्भ्यां गतवांस्तत्र खेदो मां समुपागतः ॥७६॥

यत्र हेतुकार्ययोरसमानाधिकरण्यं भवति स अन्यदेशत्वं नामालङ्कारः। उत्तरार्द्धमुदाहरणम् ॥

विशेषोक्तिस्तु कार्यस्याभावः सत्यपि कारणे ।
कृतेऽपि शीतलोपाये तापः शान्तो न सुभ्रुवः ॥७८॥*

विनापि कारणं कार्यसमुत्पत्तिर्विभावना ।
अप्यनाभरणं भाति वपुर्वामदृशः किल ॥७९॥

* ७७ तमश्लोकस्य प्रतिद्वयेऽप्यनुपलब्धिः ।

भेदा विभावनायास्तु बहवोऽन्यत्र दर्शिताः ।
एवमन्येप्यलङ्काराः केचिदेषूपसंगताः ॥८०॥

बालानामवबोधाय सुखेन मृदुवर्त्मना ।
एते प्रोक्तास्त्वलङ्कारशेखरस्यानुसारतः ॥८१॥

इत्यलङ्कारनिरूपणम् ॥

अथ गुणा निरूप्यन्ते—

काव्यस्य महत्वीयत्वाधायकाः सम्मता गुणाः ।
गुणैर्हीनो हि विक्षिप्तः सालङ्कारोऽपि कथ्यते ॥८२॥

सामान्यतो गुणाः प्रोक्ता द्वेधा शब्दार्थयोः स्थिताः ।
तेष्वन्यान्तः प्रवेशेन द्वयो पञ्च तथाऽब्धयः१ ॥८३॥

गुणा द्विविधाः शब्दगुणा अर्थगुणाश्च । तत्रैवेषु वक्ष्यमाणेषु अन्य-गुणानां प्रवेशेन शब्दगुणाः पञ्च अर्थगुणाश्चत्वारः, ते यथोक्ता अलङ्कार-शेखरे—

'संक्षिप्तत्वमुदात्तत्वं प्रसादोक्तिसमाधयः ।
अत्रैवान्यसमावेशात् पञ्च शब्दगुणाः स्मृताः' ॥ इति ॥

तत्र संक्षिप्तत्वं नाम—

संक्षिप्तत्वं तु भूयोर्थकथनं स्वल्पवर्णतः ।
दत्त्वाऽशिषो गृहीत्वार्थं नत्वा सर्वान् स निर्ययौ ॥८४॥

विशेषणानां यत् श्रैष्ठ्यमुदात्तत्वं तु तत्स्मृतम् ।
लसत्पद्मवनाकीर्णं जलं विद्योततेऽमलम् ॥८५॥

प्रसादो यत्र पठनादर्थः स्फुरति तत्क्षणात् ।
ब्राह्मणान् भोजयामास स भक्त्या घृतपायसैः ॥८६॥

उक्तिर्भाषणचातुर्यं तात्पर्यार्थावबोधकम् ।
ननु कार्ये स्त्वयं दक्षो भुङ्क्ते सम्यक् सदा सकृत् ॥८७॥

१—चत्वारः (सं०)

अत्र दत्तत्त्वे पृष्टे सति दत्तोऽस्ति वा नास्ति इत्युत्तरे कर्त्तव्येऽसकृन् भुङ्क्ते इत्युक्तिचातुर्याद्भोजने एव दत्तो नान्यत्रेत्यर्थोऽवबुद्ध्यते।

समाधिश्चान्यधर्माणामन्यत्राऽरोपणं स्मृतः ।
लीलां नीलाम्बुजस्यास्या दृगादत्ताननं विधोः ॥८८॥

अत्र ग्रहणात्मकश्चेतनधर्मः अचेतनयोर्दृगाननयोरारोपितः ॥
इति शब्दगुणाः ॥

अथार्थगुणाः । यथाऽहुः—

'भाविकत्त्वं सुशब्दत्त्वं पर्यायोक्तिः सुधर्मिता ।
चत्त्वारोऽर्थगुणाः प्रोक्ताः परे त्वत्रैव सङ्गताः' ॥ इति ॥

तत्र—

भाविकत्वं स्वयंदौत्यं स्वाभिप्रायप्रकाशकम् ।
पान्थ ! विश्रान्तिकालोऽयं तिष्ठ शून्येऽत्र कानने ॥८९॥

सुशब्दत्त्वं तु तज्ज्ञेयं क्रूरेऽर्थेऽक्रूरशब्दता ।
स तु देवातिथिर्जातोऽप्यन्यो भवितुमुद्यतः ॥९०॥

अत्र मृत इति वक्तव्ये देवातिथिरिति सुशब्देन कथनम् ॥

पर्य्यायोक्तिस्तु सा तत्तत्क्रमाख्यानं हि वस्तुनः ।
आदौ रक्तस्ततः पीतः श्वेतश्चोद्यन्नभूच्छशी ॥९१॥

सुधर्मिता विशेष्यस्य लाभो यत्र विशेषणैः ।
उदञ्चति तमो भिन्दन्नयं कुमुदशोककृत् ॥९२॥

इति अर्थगुणाः ॥

अथ दोषनिरूपणम्—

दोषाः काव्ये परित्याज्यास्ते रसप्रतिबन्धकाः ।
त (य) था हि कर्करैर्मिश्रं न भक्तं स्वदते मृदु ॥९३॥

गुणवानपि दोषाणां बाहुल्यादगुणो भवेत् ।
गुणो मुख्यः स एवास्ति दोषाभावः किलात्र यः ॥९४॥

पददोषा वाक्यदोषा अर्थदोषाश्च ते त्रिधा ।
पदे कष्टादयोऽन्यत्र न्यूनाद्या विरसादयः ॥९५॥

अन्यत्रेति वाक्ये न्यूनादयः । अर्थे विरसादय इत्यर्थः । ते यथोक्ता अलङ्कारशेखरे । तत्र प्रथमं पददोषा यथा—

'कष्टाप्रयुक्त संदिग्धव्यर्थाऽश्लीला[१]ऽप्रतीतिकाः ।
असाध्ववाचकौ दोषाः पदेऽष्टादेव नाऽपरे' ॥ इति ॥

तत्र कष्टं नाम—

कष्टं कर्णकटु ज्ञेयं दुःकरोच्चारवर्णवत् ।
सम्मार्ज्म्यथ गृहं श्रैशं कार्तार्थ्यं येन हि द्रवैः ॥९६॥

अत्र सम्मार्ज्मि श्रैशं कार्तार्थ्यं द्रवै इत्यादिपदानि कष्टानि ॥

अप्रयुक्तं बुधैर्युक्तमपि क्वापि न चाहतम् ।
यं भवान् भजने हन्ति दैवतो मेऽस्त्यसौ परः ॥९७॥

अत्र हन्तेर्गत्यर्थो दैवतशब्दस्य च पुल्लिङ्गप्रयोगः शास्त्रसिद्धोऽपि कुत्रापि कविभिर्नादृतोऽतो न प्रयोक्तव्यः ।

सन्देहं कुरुते यत्तत् संदिग्धमिति कथ्यते ।
न येन प्रापसे तात सहसार्थः किमस्यते ॥९८॥

अत्र न येन सहसार्थः इति सन्दिग्धपदम् । हे तात ! त्वं येन सह न प्रापसे नाम न गच्छसि ते तस्य सार्थः किं नाम किमर्थमित्यर्थः ।

पादसम्पूर्तये उक्तं[२] व्यर्थं यच्चाप्रयोजकम् ।
सुकविस्तु पदं व्यर्थं नैव बध्नाति हि ध्रुवम् ॥९९॥

अत्र तु वै हि ध्रुवमिति पदानि व्यर्थानि ।

निन्द्याभद्रादिभानं यत्तदश्लीलं पदं मतम् ।
दुःखसंतानहंत्र्यस्य यत्र विष्टाधिपस्य दृक् ॥१००॥

अत्र संतानहंत्रीति विष्टाधिपस्येत्यश्लीलम् ॥ अत्रैवं व्याख्या । अस्याधिपस्य दृक् यत्र प्रविष्टा भवति तस्य दुःखसमूहनाशका भवतीत्यर्थः ॥

१—(ख) श्लिष्टा । २—(ख) युक्तं ।

शास्त्रमात्रप्रसिद्धं यदप्रतीतं तदुच्यते ।
पायात् खाटविपाटाटनगारि वृषभाट् कुलम् ॥१०१॥

अत्र खाटः सूर्यः विपाटः विष्णुः अटनगारिरिन्द्रः वृषभाट् शिवः इत्यादयः शब्दाः शास्त्रमात्रप्रसिद्धाः न प्रयोक्तव्याः ॥

यच्छास्त्रोक्तविरुद्धं तदसाधु प्रविकीर्तितम् ।
तस्याश्चञ्चलदृक्पातात्कामं मे वर्द्धति चरणात् ॥१०२॥

अत्र काममिति कामशब्दस्य नपुंसकता तथा वर्द्धतीति वर्द्ध् (वृध्) धातोः परस्मैपदता शास्त्रविरुद्धा ।

अवाचकं तु तज्ज्ञेयमप्रकृतार्थवाचकम् ।
स्मराम्यश्चद्वपुः कान्ति लक्ष्यां तां वामलोचनाम् ॥१०३॥

अत्र लक्ष्यामिति ग्राम्यस्त्रीवाचकादप्रकृतार्थवाचकः लक्षितुं योग्या लक्ष्या दर्शनीया इत्यर्थः । प्रकृतार्थस्तु तिरोहितः ॥

इति पददोषाः ॥

अथ वाक्यदोषाः ॥ तत्र सामान्यतो वाक्यदोषास्तु—

पादादौ न प्रयोक्तव्या हिस्मवैनुचवाकिलाः[1] ।
खल्वैवेवादयो वाक्ये तथा दुर्ज्ञेयकार्थता ॥१०४॥

विशेषदोषा यथोक्ता अलङ्कारशेखरे—

न्यूनं विसन्धिव्याकीर्णं समाप्तपुनरात्तकम् ।
भग्नक्रमयतिच्छन्दो वाक्यगर्भमरीतिमत् ॥१०५॥

अविमृष्टविधेयांशं समुदायार्थवर्जितम् ।
विरुद्धमतिकृद्वाक्ये दोषा द्वादश कीर्तिताः ॥१०६॥ इति ॥

न्यूनं तत्रान्वयज्ञानविधायि पदशून्यता ।
गृहं त्यक्तं वने रक्तं नक्तं भुक्तं सुदुःखिताः ॥१०७॥

१—(ख) वाचकाः ।

अत्र गृहं त्यक्तमित्यादौ अस्माभिरिति नक्तं भुक्तमित्यस्यान्ते इति वयमिति पदानि अपेक्षितानि तदभावान्न्यूनमिति दोषोऽस्ति ।

विसन्धिः सन्ध्यभावोऽथ विरुद्धः सन्धिरेव च ।
द्विविधः प्रथमस्तत्र स्वैच्छिकश्च प्रगृह्यजः ॥१०८॥

ऐच्छिकः सन्ध्यभावस्तु सकृदप्यतिदोषकृत् ।
प्रगृह्यादिकृतस्त्वेष बाहुल्येनैव दोषकृत् ॥१०९॥

विसन्धिर्द्विविधः सन्धेरभावस्तथा विरुद्धसन्धिः तत्राद्योऽपि द्विधा, कविना स्वेच्छाकृतः । अथ प्रगृह्यादिकृतः नाम प्रकृतिभावादिकृतः । तत्र स्वेच्छाकृतस्तु एकवारमपि कृतोऽतिदुष्टः, प्रकृतिभावादिकृतस्तु वारं वारं कृतो दुष्टः ।

उभयोरप्युदाहरणम्—

तात एकेन इषुणा भिन्धि एनं समुद्धतम् ।
पश्य प्रौढा इभा उच्चा अमी एतेन पातिताः ११०॥

"भेदा विरुद्धसन्धेस्तु चत्वारः सन्ति विश्रुताः ।
अश्लीलकष्टोपहृतविसर्गात्तविसर्गकाः" ॥१११॥

विरुद्धसन्धिश्चतुर्विधः, अश्लीलः, कष्टः, उपहृतविसर्गः लुप्तविसर्गश्च, चतुर्णामप्युदाहरणम्—

प्रातरिन्दुरिवास्यास्यं भ्रूयुद्भ्रान्तो भयादसौ ।
कथं तै रभसा यातो धीरा वीरा भटा हि ते [१] ॥१११॥

व्याकीर्णं व्यवधानेन दूरगो यस्य चान्वयः ।
वृन्दावनं हरिं शीघ्रं गत्वा प्रीत्याधुना भज ॥११२॥

अत्र वृन्दावनं गत्वा, हरिं भजेत्यन्वयो व्यवहितोऽस्ति ।

१—(ख) भटायते ।

समाप्तौ मुख्यवाक्यार्थबोधे जातेऽपि यत्पुनः ।
उपात्तं तद्धि विज्ञेयं समाप्तपुनरात्तकम् ॥११३॥

वाक्यसमाप्तौ मुख्यवाक्यार्थबोधे सत्यपि पुनस्तद्वाक्यस्यैव पदोपादानं समाप्तपुनरात्तकनामा दोषः ।

यथा—

रमणीयतमं सर्वमस्या मृगदृशो वपुः ।
अहो विधातुर्विज्ञानशिल्पं परिणतं चिरात् ॥११४॥

अत्र चिरादिति समाप्तपुनरात्तकम् विधातुर्विज्ञान–शिल्पं परिणतमिति मुख्यसमाप्तावपि पुनरादानात् ।

भग्नक्रममुपक्रान्तक्रमत्यागोऽपरक्रमः ।
भूरिदानं प्रयच्छास्मै प्रतापस्ते रवेः समः ॥११५॥

यत्र उपक्रान्तशब्दक्रम वार्थक्रमं मुक्त्वाऽन्यक्रमोपादानं स भग्नक्रमाख्यो दोषः । तदुदाहरणमत्रोत्तरार्द्धम् ।

यतौ शब्दविभागो यत्तद्भग्नयतिकं स्मृतम् ।
नमस्तस्मै सदा नारायणाय कुरुसत्तम ॥११६॥

भग्नछन्दस्तु तज्ज्ञेयं यच्छन्दोभङ्गसंयुतम् ।
वंदेऽहं श्रीजानकीशं रुक्मिणीनाथमन्वहम् ॥११७॥

अत्र जानकीशमिति जा इति पञ्चममक्षरं लघु भवितुं योग्य 'सर्वत्र लघु पञ्चममि' त्यनुशासनात् ॥

असमाप्तस्य वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरस्य यः ।
प्रवेशस्तत्तु विज्ञेयं वाक्यगर्भं कवीश्वरैः ॥११८॥

वृषोऽयं तव शक्तिश्चेद्रक्षैनं नीयते मया ।
यशसा ते निरी (च) स्व जगद्व्याप्तं चराचरम् ॥११९॥

अत्र वाक्यमध्ये तव शक्तिश्चेद्दर्शनमिति तथा च निरीक्षस्वेति वाक्यान्तरप्रवेशान वाक्यगर्भम् ॥

मुक्त्वा रीतिमुपक्रान्तां प्रवृत्तिस्तदरीतिमत्[१] ।
मेघा वर्षन्ति तडितश्चलन्ति स्निह्यते मया ॥१२०॥

उपक्रान्तां रीतिं मुक्त्वा यान्यरीत्या प्रवृत्तिस्तत् अरीतिमत् यथा मेघा वर्षन्ति इत्यादौ प्रथमान्तकर्त्रुपक्रमं मुक्त्वा मयेति तृतीयान्तकर्तृग्रहणं अरीतिमत् ।

प्राधान्येन विधेयस्य निर्देशो यत्र नो भवेत् ।
अविमृष्टविधेयांशाभिधानं दूषणं हि तत् ॥१२१॥

यथा—

वचोऽमृतेन ते तुल्यं दृष्टिः स्नेहेन सम्भृता ।
पुष्पतुल्यस्वभावत्वं सुतरां तव वर्त्तते ॥१२२॥

अत्र पुष्पैस्तुल्यः स्वभावस्ते इति वक्तव्ये समस्तपदं यत्कृतं तत् अवि-मृष्टविधेयांशम् ॥ स्वभावमुद्दिश्य पुष्पतुल्यत्वं विधेयं तच्च समासप्रविष्टतया प्राधान्येन न निर्दिष्टम् ॥

'विरुद्धोक्तिस्तु प्रस्तावात् समुदायार्थवर्जितम्' ।

यथा—

नृत्यन्तं स्वाङ्गणे भिक्षुं जीर्णवल्कलपादुकम् ।
अपृच्छत् कामुकः श्रीमन् ! हिंग्वाः कोऽर्थोस्ति वारिषु ॥१२३॥

विरुद्धां कुरुते बुद्धिं विरुद्धमतिकृत्तु तत् ।
अकार्यमित्रं कृष्णोसावेको गाण्डीवधन्वनः ॥१२४॥

अत्राकार्यमिति निर्व्याजमित्रमित्यर्थे अकृत्यमित्रमिति विरुद्धबुद्धिं च करोतीदं वाक्यम् ॥

इति वाक्यदोषाः ॥

१—(ख) रीतिमुपक्रान्तामवृत्तिस्तदरीतिमत् ।

अथार्थदोषाः, ते च तत्रैवोक्ताः, यथा—

अष्टार्थदोषा विरसग्राम्यव्याहतखिन्नताः ।
हीनाधिकासदृक्साम्यं देशादीनां विरोधि च ॥ इति

तत्र—

विरोधिरससन्दर्भाद्विरसं रसहानिमत् ।
रुदन्तीं पुत्रनाशार्त्तां प्रियोऽचुम्बन्मुखे प्रियाम् ॥१२५॥

अत्र करुणशृङ्गारयोर्विरोधाद्विरसम् ॥

ग्रामीणजनवद् योक्तिस्तद्ग्राम्यं परिकीर्तितम् ।
उत्क्षिप्य चरणौ बाले दर्शय क्वास्ति कण्टकः ॥१२६॥

व्याहतं तद्धि विज्ञेयं यदुपात्तविरुद्धकम् ।
कमलं निर्मलं कान्ते त्वच्चक्षुरिव शोभते ॥१२७॥

अत्र कमलं यद्भवति तन्निर्मलमिति विरुद्धकथनं व्याहतम् ॥

अपुष्टं खिन्नमित्युक्तं साधारणनिरूपणात् ।
भुजे खड्गोऽस्ति ते तुल्यः क्षितौ शूरो परो न तत् ॥१२८॥

अत्र भुजे खड्गस्तु सर्वेषां भवत्येव एतावता किमधिकशूरत्वम् ।

हीनोपमं तु तज्ज्ञेयमुत्तमस्याधमोपमा ।
त्वयेश पालिता लोकाः कुक्कुटेनैव तत्कुलम् ॥१२९॥

तत्कुलं कुक्कुटकुलम् ।

हीनस्योत्तमसाम्यं यज्ज्ञेयं तदधिकोपमम् ।
ऐरावत[1] इवाऽभाति तवाङ्गणगतः खरः ॥१३० ॥

असादृश्योपमानं तत् यत्किलासदृशोपमम् ।
सस्फुलिङ्गो विभात्यग्निर्मेघः शीकरवानिव ॥१३१॥

१–(ख) उच्चैःश्रवा ।

देशकालवयोऽवस्थाप्रभृतीनां प्रतीयते ।
भेदो यत्र विरोधेन तद्देशादिविरोधिकम् ॥१३२॥

यथा—

चैत्रे रवौ चण्डकरे हिमाम्भः कणोष्मभावे मरुपल्वलेऽम्भः ।
पातुं गतं बालकमत्तनागकुलं तटस्थाः शमिनो निजघ्नुः ॥१३३॥

अत्र चैत्रे इति कालस्य, मरुपल्वले इति देशस्य, मत्त इति वयसः, शमिन इति अवस्थाया विरोधः ॥

इत्यर्थदोषाः ॥

दोषाणां हि रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकता यदा ।
तदैव दोषता तेषां सा न चेन्न तदा हि सा ॥१३४॥

सा नाम रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकता चेन्न तर्हि तेषां दोषाणां सा नाम दोषता न भवतीत्यर्थः ॥ तदुक्तं हि—

अलङ्कारे गुणे दोषे रसे वा काव्यसम्पदाम् ।
प्रतीतिरेव विदुषां प्रमाणमवसीयते ॥१३५॥

दोषाणामप्यदोषत्वं केषुचिद्विषयेषु हि ।
कविभिः कथितं पूर्वैरन्यतस्तन्निरीक्ष्यताम् ॥१३६॥

यथोक्तं हि—

"अनुप्रासेषु नौ कष्टं श्लेषादौ नाप्रयुक्तता ।
मिषस्तुतौ न संदिग्धं न व्यर्थं यमकादिषु ॥ १ ॥

नाश्लीलं भगवत्यादौ तद्विद्ये[1]नाप्रतीतिकम् ।
नासाद्यनुकृतौ नापि लक्षणायामवाचकम् ॥२॥

इति पददोषेषु ॥

१–सैव विद्या यस्य तस्मिन् ।

अथ वाक्यदोषेषु—

प्रतीत्यबाधान्न न्यूनं पदभेदैर्विसन्धि न ।
न व्याकीर्णं तु साकांक्षे नान्यवाक्ये समाप्तता ॥ ३ ॥

समस्ते यतिभङ्गो न वातादौ[1] नार्थवर्जितम् ।
विरुद्धं न तथा वाच्ये विरसं न प्रधानके ॥ ४ ॥

न व्यर्थं नर्मणि ग्राम्यं २सहानेरखोगतः ।
तत्र तत्राभिधातव्ये तथानुकरणादिषु ॥ ५ ॥

उन्मत्ताद्यभिधाने च कोऽपि दोषो न विद्यते ।

तथा—

तदर्थातिशये शैघ्र्ये दैन्ये कोपेऽवधारणे ।
विषादे विस्मये हर्षे पुनरुक्तं न दूष्यति ॥ ६ ॥"

इति दोषनिरूपणम् ॥

शब्दार्थयोः सममलङ्कृतिभिः स्वरूपं
संक्षिप्तमित्यभिहितं गुणदोषयोश्च ।
काव्यस्य निर्मितिविधेर्विधिरस्ति योऽन्यः
सोऽन्यत्र वीक्ष्य सुधिया स्वधिया विभाव्यः ॥१३७॥

अप्यन्यः काव्यनिर्माणसम्प्रदायोऽस्ति विस्तृतः ।
सोऽन्यग्रन्थेषु वालोक्यः कविकल्पलतादिषु ॥१३८॥

संक्षेपतो हि बालानां श्लोकनिर्म्माणहेतवे ।
इति प्रसङ्गतः काव्यव्यवस्थापि निरूपिता ॥ १३६ ॥

इति काव्यव्यवस्थानिरूपणम् ॥

रसादिष्वप्रयत्नेन बालव्युत्पत्तिहेतवे ।
विद्यारामेण विमला कृतेयं रसदीर्घिका ॥ १४० ॥

१—वातरोगादि उपसृष्टे आदि शब्दाद्विरहादयो ग्राह्याः ॥

सुखावरोहै रमणीयबन्धैः
सोपानकैः पञ्चभिरच्छपद्यैः ।
विनिर्मितायां रसदीर्घिकायां
रसान् सुखं सत्पुरुषा रसन्तु ॥ १४१ ॥

पसुंजाख्ये ग्रामे प्रथमममदाबादनिकटे
निवासो यस्यासीत्तदुदयपुरेऽनन्तरमथो ।
ततश्च श्रीकोटाभिधनगर आजीवनवशा-
दिमं विद्यारामः स किल सुभगं ग्रन्थमकरोत् ॥१४२॥

अपि च—

तातो यस्याभिजातः सहृदयहृदयो वेणिरामाभिधानो
गीर्वाणाचार्यदेश्यो व्रजपतिरिति यत् ताततातोऽथ चाभूत्।
भट्टो यस्यावटङ्को विशलनगरजब्राह्मणेषु प्रख्याति-
र्विद्यारामेण तेनोदयपुरगृहिणा निर्मिता दीर्घिकेयम् ॥१४३॥

षड्व्योमाद्रिमहीमिताङ्कगणिते संवत्सरे वत्सले
ज्येष्ठस्यासितसप्तमीभृगुदिने कोटाभिधाने पुरे ।
एनां सज्जनरञ्जनाय परितः पूर्णां रसैर्दीर्घिकां
विद्यारामकविः स्वयं सुललितां पर्याप्तरूपां व्यधात् ॥१४४॥

अणुमपि गुणजालं ये प्रहृष्यन्ति दृष्ट्वा
सुनियतममुना ते हर्षमेष्यन्ति सन्तः ।
मम किमु विधुरं चेत्पामरा न प्रसन्नाः
प्रकटति तु पुरैषां दुर्जनत्वं हि तेन ॥१४५॥

अपि च—

इममभिनवबन्धं मत्प्रबन्धं निरीक्ष्य
सहृदयसुहृदो ये ते भविष्यन्ति हृष्टाः ।
न यदि पुनरसूयादूषिताश्चेत् प्रसन्ना-
स्तदपि भवति तेषां यावदाश्चर्यमन्तः ॥१४६॥

अथास्य ग्रन्थस्यानुक्रमणिका—

मङ्गलाचरणं पूर्वं प्रतिज्ञा प्रार्थना ततः ।
ततश्च रससामान्यलक्षणं भावलक्षणम् ॥ १४७ ॥

स्थायिभावविभावानुभावानां लक्षणान्यतः ।
स्वरूपलक्षणाद्युक्तिः सात्त्विकव्यभिचारिणाम् ॥ १४८ ॥

शृङ्गारे रतिभावोक्तिर्नायिकाभेदवर्णनम् ।
नायकानामथो भेदकथनं हाववर्णनम् ॥ १४९ ॥

विप्रलम्भस्य कथनं दशावस्थानिरूपणम् ।
ततो हास्यादिमायान्तरसानां वर्णनं क्रमात् ॥ १५० ॥

ततो भक्तिरसस्योक्तिर्व्यवस्था रसभावयोः ।
निरूपणं ततश्चात्र रीतिवृत्त्योः सुविस्तरात् ॥ १५२ ॥

ततः काव्यव्यवस्थायां शब्दार्थविनिरूपणम् ।
सन्दर्भोक्तिस्ततो मादिगणरूपनिरूपणम् ॥ १५२ ॥

अलङ्कारा गुणा दोषास्ततश्चोक्ता अनुक्रमात् ।
नामग्रामादिकथनं तातज्ञात्योस्तथा कवेः ॥ १५३ ॥

समाप्तेः कथनं पश्चाद्वर्षमासादिकोक्तिभिः ।
सज्जनस्याथ दुष्टस्य स्वभावोक्तिस्ततः परम् ॥१५४॥

अनुक्रमोक्तिरेतस्य ग्रन्थस्यात्रास्त्यनन्तरम् ।
प्रार्थना विदुषां पश्चात् कृष्णायैतत्समर्पणम् ॥ १५५॥

एते ग्रन्थेऽत्र वृत्तान्ता वर्त्तन्ते विनिरूपिताः ।
संक्षेपादप्रयत्नेन बालव्युत्पत्तिहेतवे ॥ १५६ ॥

युक्तं स्याद्रचितमिहाथवाप्ययुक्तं
सोढव्यं तदखिलमेव सूरिभिर्मे ।
अन्येषां गुणमणुमप्युदुच्चचित्ताः
केप्युच्चैस्तरमभिकुर्वते हि सन्तः ॥१५७॥

परोपकाराय मया निबद्धा
मनोरमा या रसदीर्घिकेयम् ।
विनिर्मितौ स्यात् सुकृतं यदस्या-
स्तदस्तु कृष्णार्पणमक्षयं मे ॥१५८॥

इति रसदीर्घिकायां काव्यव्यवस्थानिरूपणं नाम
पञ्चमं सोपानम् ॥
समाप्तोऽयं ग्रन्थः ग्रन्थस्यास्व (स्य) श्लोक संख्या ॥ ६२४ ॥ *

---

* (ख) इति श्रीरसदीर्घिकायां व्या (काव्य) व्यवस्थानिरूपणं नाम पंचमं सोपानं ॥ ॥ ॥ समाप्तोयं ग्रन्थः ॥ लिखितमेतत्पुस्तं द्यौ:साधिवासिना गौडब्राह्मणेन सुधियाऽमररामेण महानंदपाठकस्य पौषकृष्ण चतुर्थ्यां सोमवासरायां ॥ जयपुरमध्ये ॥ ॥ श्रीर्भवतु ॥

परिशिष्टम्

श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धान्तर्गता ३४ अध्याये
शङ्खचूडयक्षकथा

कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।
विजह्रतुर्वने रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ॥२०॥

उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरे ॥२१॥

निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।
मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥

जगतुः सर्वभूतानां मनः श्रवणमङ्गलम् ।
तौ कल्पयन्तौ युगपत् स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥

गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप ।
स्रंसद्दुकूलमात्मानं स्रस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥

एवं विक्रीडतोः स्वैरं गायतोः सम्प्रमत्तवत् ।
शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥२५॥

तयोर्निरीक्षतो राजंस्तन्नाथं प्रमदाजनम् ।
क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदीच्यामशङ्कितः ॥२६॥

क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम् ।
यथा गा दस्युना ग्रस्ता भ्रातरावन्वधावताम् ॥२७॥

मा भैष्टेत्यभयारावौ शालहस्तौ तरस्विनौ ।
आसेदतुस्तं तरसा त्वरितं गुह्यकाधमम् ॥२८॥

स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।
विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥

तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।
जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥३०॥

अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।
जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥३१॥

शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।
अग्रजायाददात् प्रीत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥३२॥

———*———